रीति-काव्य की भूमिका

आलोचना व निबन्ध

डॉक्टर नगेन्द्र
एम० ए०, डी० लिट्०

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क-दिल्ली ।

भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ मेरे गवेषणात्मक निबन्ध का पूर्वार्द्ध है। इसमे हिन्दी-रीति-काव्य की भूमिका-मात्र उपस्थित की गई है। ग्रंथ में तीन अध्याय हैं:--पहले म रीति-युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का ऐतिहासिक विवचन करते हुए, एक प्रकार से, अभीष्ट चित्र के लिए एक आधार-फलक तैयार किया गया है। यहां मैंने घटनाओं को प्रायः बचाते हुए तत्कालीन जीवन की आंतरिक प्रवृत्तियों को ही ग्रहण किया है। क्योंकि काव्य का सीधा सम्बन्ध उन्ही से है। जीवन की इन भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं रागात्मक अन्तःप्रवृत्तियों में परस्पर क्या संबंध था, इसका निदश यथा-स्थान कर दिया गया है। दूसरे अध्याय मे रीति-काव्य के शास्त्रीय आधार का साधारणतः एतिहासिक और विशेषतः सैद्धांतिक विवेचन ह। इस प्रसंग मे भारतीय काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धातों और उन पर आश्रित सम्प्रदायो का नवीन साहित्य-शास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रकाश मे विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। आज काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अध्ययन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है और मै विस्तार-पूर्वक इस पर लिखना भी चाहता था। परन्तु प्रस्तुत निबंध के अन्तर्गत इसके लिए अवकाश नहीं है। अतएव मैंने मूल सिद्धातों को ही ग्रहण किया है, उनके विस्तार-प्रस्तार और अंग-उपांगों को छोड़ दिया है। मनोविज्ञान ओर नवीन काव्य-सिद्धातों के प्रकाश में भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्ययन हिन्दी मे अभी अत्यन्त विरल है---उपर्युक्त अध्याय में मैंने इसी महत्त्वपूर्ण प्रसंग की रूपरेखा बाँधने का विनम्र प्रयत्न किया है। तीसरे अध्याय में रीति-काल की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। यहाँ भी मैंने अपने विवेचन को प्रवृत्तियों तक ही सीमित रखा है। व्यक्तियों को यद्यपि स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया गया, परन्तु निष्कर्षों में अधिकांशतः सभी प्रतिनिधि रीति-कवियों क मुद्रित और हस्तलिखित (प्राप्य) ग्रंथों का आश्रय लिया गया है।

हिन्दी मे रीति-काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी-युग के आलोचकों ने इस कविता को नीतिभ्रष्ट कहकर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि-लेखक इसको अति-ऐन्द्रिय और स्थूल कह कर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवाद की अभिव्यक्ति मानकर प्रतिक्रियावादी कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि मे ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है—अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्न-पूर्वक बचाया है। और, इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्त्व है।

—नगेन्द्र

विषय-क्रम

भाव का विवेचन: भाव की परिभाषा, स्थायी और संचारी का अन्तर—मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर, स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति।

रसों और भावों की संख्या, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस, मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव। निष्कर्ष।

३. **अलंकार-सम्प्रदाय**

अलंकार-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास
अलंकार की परिभाषा और धर्म
अलंकार और अलंकार्य का भेद
अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार
भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र
रसानुभूति में अलंकार का योग

४. **रीति-सम्प्रदाय**

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास
रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति और शैली : साम्य और वैषम्य। रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति, दोष की स्थिति।

५. **वक्रोक्ति-सम्प्रदाय**

संक्षिप्त इतिवृत्त
वक्रोक्ति का स्वरूप
विवेचन
वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद
आचार्य शुक्लजी की आलोचना

६. **ध्वनि-सम्प्रदाय**

ध्वनि-सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास
ध्वनि का आधार और स्वरूप
व्यंजना शक्ति
ध्वनि और रस
ध्वनि के अन्तर्गत अन्य सिद्धांतों का समाहार।
उपसंहार—सिद्धांत-समन्वय।

७. नायिका-भेद

पूर्ववृत्त:—भरत, धनंजय, विश्वनाथ का नायिका-भेद

'शृङ्गार-तिलक' से आरम्भ होने वाली नायिका भेद की परम्परा,

भानुदत्त की देन।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार

३. रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति-शब्द का अर्थ और इतिहास।

रीति-काव्य की अन्त:प्रेरणा और स्वरूप।

रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

निरूपण-शैली

मौलिक उद्भावनाएँ और आलोचना-शक्ति

काव्य-सिद्धांत और सम्प्रदाय

शृंगारिकता : शृङ्गारिकता के कारण

शृङ्गारिकता का स्वरूप

शृङ्गार का गार्हस्थिक रूप

नारी के प्रति दृष्टिकोण

जीवन-दर्शन : रुढिबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप

रीति-काव्य का रूप आकार (फ़ार्म)

अलंकारों का प्रयोग

उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग

रीति-काव्य का साहित्यिक आधार

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

Tarachand	1. Short History of the Indian People
	2. हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास
Rawlinson	India—A Short Cultural History.
Edwardes & Garre	Moghul Rule in India.
Tarachand.	Influence of Islam on Indian Culture.
Ishwari Prasad.	A Short History of Muslim Rule in India.
Moreland.	From Akbar to Aurangzeb.
Banarsi Pd. Sexena.	History of Shah Jahan of Delhi.
Jadunath Sarkar	History of Aurangzeb.
Jadunath Sarkar.	Fall of the Moghul Empire I & II
Irwine	Later Moghuls VS. I & II.
Khosla	Moghul Kingship & Nobility.
Jadunath Sarkar	Studies in Moghul India.
Tod.	Annals and Antiquities of Rajasthan.
	ART.
Havell	Indian Sculpture & Painting.
V. Smith.	History of Fine Arts in India.
Percy Brown	Indian Painting.
राय कृष्णदास	भारत की चित्रकला

२. शास्त्रीय आधार

सर्वश्री

भरतमुनि	नाट्य शास्त्र
दण्डी	काव्यादर्श
वामन	काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति
आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त	ध्वन्यालोक : लोचन सहित :
कुन्तल	वक्रोक्तिजीवितम्
भोज	शृंगारप्रकाश

	2 Interpretation of Dreams
	3. Leonardo-da-Vinci.
Jung	1. Psychological types.
	2 Modern Man in search of a soul.
Bosanquet	History of Aesthetic.
Bain	English Composition & Rhetoric.
Pater.	Appreciations.
Reade	English Prose Style.
Murry	The Problem of Style.

३. रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

सर्वश्री

मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद, नवरत्न
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्यामसुन्दर दास	भाषा और साहित्य
डा० रसाल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श, पद्माकर-पंचामृत, बिहारी की वाग्विभूति।
केशव	रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया
चिन्तामणि	कविकुल कल्पतरू
जसवन्तसिंह	भाषा-भूषण
मतिराम	रसराज, ललित-ललाम
भूषण	शिवराज-भूषण
कुलपति	रस-रहस्य
श्रीपति	श्रीपति सरोज : ह० लि० :
दास	काव्य-निर्णय, शृङ्गार-निर्णय
दूलह	कविकुल-कंठाभरण
बेनीप्रवीन	नवरस-तरंग
पद्माकर	जगद्विनोद, पद्माभरण
प्रतापसाहि	काव्य-विलास : ह० लि० :
,,	व्यंग्यार्थकौमुदी
रसिक गोविन्द	रसिक गोविन्दानन्दघन : ह० लि० :
उत्तमचन्द भंडारी	अलंकार आशय : ह० लि० :

धनंजय	दश रूपक
राजशेखर	काव्य-मीमांसा
मम्मट	काव्य-प्रकाश
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण
जयदेव	चन्द्रालोक
भानुदत्त	रस-तरंगिणी
भानुदत्त	रस-मंजरी
जगन्नाथ	रस-गंगाधर
रूप गोस्वामी	उज्ज्वल नीलमणि
हरिऔध	रस-कलश
रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि
श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन
केशवप्रसाद मिश्र	मेघदूत की भूमिका
गुलाबराय	नवरस
कन्हैयालाल पोद्दार	रस मंजरी, अलंकार मंजरी
अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण
S. K. De	Sanskrit Poetics.
Kane	Introduction to Sahitya Darpana
Saukaran	Some aspects of literary criticism in Sanskrit.
Lahiri	The concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics
Bhagwandas	The Science of Emotions.
Croce	Aesthetic.
Richards	Principles of Literary Criticism.
Richards	Practical Criticism.
Mellone and Drummond	Elements of Psychology
Stout	Manual of Psychology.
James	Principles of Psychology
Mcdougall	1. Outline of Psychology.
	2. Energies of Man
Dewey.	Psychology.
Frend.	1. Introductory Lectures on Psychoanalysis

: १ :

रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक स्थिति

आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रायः सर्वमान्य-सा ही हो गया है—और वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत-कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है। उसके अनुसार रीति-काल के अन्तर्गत सं० १७०० से सं० १९०० तक पूरी दो शताब्दियाँ आ जाती हैं।

सम्वत् १७०० से १९०० तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुग़ल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। सम्वत् १७०० में भारत के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। मुग़ल वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था—जहाँगीर ने जो साम्राज्य छोड़ा था, शाहजहाँ ने उसकी और भी श्री-वृद्धि और विकास कर लिया था। दक्षिण में अहमद-नगर, गोलकुण्डा और बीजापुर-राज्यों ने मुग़लों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, और उत्तर-पश्चिम में सं० १६९५ में कन्धार का किला मुग़लों के हाथ में आ गया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार उसका साम्राज्य सिन्ध के लहिरी बन्दरगाह से लेकर आसाम में सिलहट तक और अफग़ान-प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण में औसा तक फैला हुआ था। उसमें २२ सूबे थे, जिनकी आमदनी ८८० करोड़ दाम अथवा २२ करोड़ रुपया थी। देश में अखण्ड शान्ति थी; खज़ाना माला-माल था। हिन्दुस्तान की कला अपने चरम वैभव पर थी। मयूर-सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। परन्तु उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँचने के उपरान्त यहीं से अपकर्ष का भी आरम्भ हो गया था। अप्रतिहत मुग़ल-वाहिनी पश्चिमोत्तर प्रान्तों में लगातार तीन बार पराजित हुई—मध्य एशिया के आक्रमण बुरी तरह विफल हुए। इन विफलताओं से न केवल धन-जन की हानि हुई, वरन् मुग़ल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का लगा। उधर दक्षिण में भी उपद्रव आरम्भ हो गए थे। बाहर से यद्यपि हिन्दुस्तान सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था, परन्तु उसके अन्तस् में अज्ञात रूप से क्षय के बीज जड़ पकड़ रहे थे। जहाँगीर की मस्ती और शाहजहाँ के अपव्यय दोनों का परिणाम अहितकर

हुआ। जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति-काव्य के चरम वैभव के बाद सं० १७०० के आस-पास से ही कविता क्षय-ग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक इतिहास में मुग़ल-साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।

सं० १७१५ में शाहजहाँ बहुत सख्त बीमार पड़ गया—देश में एक अफ़वाह उड़ गई कि सम्राट् की मृत्यु हो गई। मुग़लों में चूंकि उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था अतएव दुर्भाग्यवश बादशाह के जीवन-काल में ही उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। वह युद्ध रीति-काल के आरम्भ में सबसे प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना है—इसका राजनीतिक जौर नैतिक प्रभाव समस्त देश पर पड़ा। सम्राट् का सबसे बड़ा पुत्र दारा अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व के कारण न केवल सम्राट् का ही वरन् प्रजा का भी स्नेह-भाजन था—परन्तु वह कूटनीति से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार औरंगजेब का व्यक्तित्व कठोर और दृढ़ था। उसकी हार्दिक शक्तियाँ जितनी सीमित थीं बौद्धिक शक्तियाँ उतनी ही विकसित थीं। मानव-चरित्र के अध्ययन में उसकी गति अपरिमित थी—उसकी दृष्टि अन्तःप्रवेशिनी और निर्णय-शक्ति स्थिर-संयत थी। कूटनीति में वह दक्ष था। दारा के विपरीत वह कट्टर सुन्नी था—उसमें धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। दारा और औरंगजेब का युद्ध मानो संस्कृति और राजनीति का युद्ध था। कई जगह कई महीनों तक मोर्चा लगा। सारा साम्राज्य ईश्वर के सदृश प्रतापी मुग़ल सम्राट् के पुत्रों में होने वाले इस भयंकर युद्ध को विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। हिन्दू और उदाराशय मुसलमान दारा की ओर थे—कट्टर सुन्नी औरंगजेब की तलवार पर इस्लाम की विजय की आशा केन्द्रित किये हुए थे। भाग्य के अनुरोध से दारा की पूर्ण पराजय हुई—देश ने इस लोक-प्रिय राजकुमार के वध का लोम-हर्षक नाटक अपनी आँखों से देखा। उन्होंने देखा मानो नैतिक और धार्मिक विश्वासों को पैरों-तले कुचलता हुआ औरंगजेब भाइयों के खून में होकर सिंहासन तक पहुँच गया है और गर्व से उस पर आसीन है। औरंगजेब का राज्य-काल सं० १७१५ से सं० १७६४ तक एक सम्पूर्ण अर्ध शताब्दी को आच्छादित किये हुए है। उसका बृहत् राज्य-काल अशान्ति और संघर्ष का इतिहास है। परन्तु इसका पूर्वार्ध तो प्रायः ज़मींदारों, राजाओं तथा हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रवों एवं विद्रोहों को दमन करने में बीता। सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने, अवध मे बैस राजपूतों ने, और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य ज़मींदारों ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। औरंगजेब ने यथासमय सभी को शान्त किया और इन उपद्रवी हिन्दुओं से प्रतिशोध लेने के लिए मथुरा में केशवदास

का मन्दिर और काशी में विश्वनाथ का मन्दिर विध्वस्त करा दिया, जिससे उसकी हिन्दू-विरोधी नीति और भी स्पष्ट हो गई। उधर बुन्देलखण्ड में चम्पतराय विद्रोही हो गए और उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुग़लों का विरोध करते रहे।

कविवर लाल ने अपने ग्रन्थ 'छत्र-प्रकाश' में उनकी वीरता और बलिदान का ओजस्वी वर्णन किया है :

मारि तुरक कौ मुंह मुरकायौ। रन में भिजै बुंदेला पायौ॥
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यौ। बल दिवान पर हल्ला बोल्यौ॥
बजे नगारे फेर जुझाऊ। रन में रुप्यौ उमड़ि बलदाऊ॥
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहाँ खम खाई॥
ओड़ि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लर्‌यौ बल करन बुंदेला॥
खभरि खेत तहवर बिचलायौ। सूबन के उर साल सलायौ॥
सले साल सूबानि कै, धक्कनि हलै पटान।
दियौ भाल छत्रसाल कै, राजतिलक भगवान॥

राजपूताना मे मारवाड़ के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अशान्ति फैली हुई थी। अब तक राजपूताना के प्रमुख राज्य मुगलों की निष्कपट रूप से सेवा करते रहे थे—जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्जा जयशाह ने साम्राज्य की ओर से युद्ध करते हुए ही अपने प्राण गँवाए थे। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त औरंगजेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिया; जिसके कारण मारवाड और मेवाड़ मुग़लों के विरुद्ध हो गए—उधर उन्होंने शाहजादा अकबर को भी अपनी ओर तोड़कर औरंगजेब को विषम परिस्थिति में डाल दिया। अन्त में हार तो राजपूतों की ही हुई, फिर भी दुर्गादास अन्त तक मुग़लों का सामना करता रहा। इधर आत्म-रक्षा के निमित्त हिन्दू धर्म के विभिन्न समुदायों में भी चेतना जागृत हो रही थी। नारनौल और मेवाड़ के प्रांतों में सतनामी मत के लोगों ने अपने भयंकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अद्‌भुत साहस को देखकर तो मुग़ल सैनिक उनमें अति प्राकृतिक शक्तियों का सन्देह करन लगे और स्वयं औरंगजेब को—जो मुसलमानों का जिन्दा पीर समझा जाता था—अपन हाथों से दुआएँ और आयतें लिख-लिखकर शाही झण्डों में टाँकनी पड़ी। पजाब में सिखों का असन्तोष बढ़ रहा था। गुरु तेग़बहादुर की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों पर किये गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिख-धर्म के नीचे एक साम्यवादी सैनिक जाति का निर्माण और विकास हो रहा था, परन्तु स्वतन्त्र शक्ति अभी इनमें भी नहीं आई थी। स्वयं गुरु गोविन्दसिंह ने ही मुग़लों का मनसब स्वीकार कर लिया था।

दक्षिण की दशा और भी खराब थी। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता ने दक्षिण के शिया राज्यों की शक्ति सर्वथा क्षीण कर दी थी। वह स्वयं इतनी दुर्व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ था, अतएव शिवाजी की अध्यक्षता में मराठे शक्ति संगठित कर रहे थे। कुछ दिन तो वे केवल उपद्रव ही करते रहे, परन्तु फिर शिवाजी ने व्यवस्थित राज्य स्थापित कर लिया।' गुरु रामदास आदि के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओं में राष्ट्रीय पुनर्जागृति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे। भूषण ने शिवाजी की राष्ट्रीय भावना का जो वर्णन किया है, वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तुस्थिति से बहुत दूर नहीं है। शताब्दियों से मुग़ल सेना अपराजेय समझी जाती रही थी, परन्तु शिवाजी ने यह स्वप्न भंग कर दिया। मराठों का यह प्रदेश हिन्दी-भाषी प्रान्तों से दूर था। अतएव इस पुनर्जागृति का प्रभाव वहीं तक सीमित रहा—उत्तर के प्रान्त उससे अस्पृष्ट रहे—वहाँ की हिन्दू जनता अभी उसी प्रकार आत्म-चेतना-शून्य थी। राज्य-काल के उत्तरार्ध में सम्राट् का ध्यान दक्षिण पर केन्द्रित रहने के कारण उत्तरापथ में अशान्ति और अव्यवस्था और भी बढ़ गई। इस प्रकार औरंगजेब के शासन-काल मे देश की राजनीतिक स्थिति डावाँडोल थी, विशाल मुग़ल साम्राज्य की चूलें ढीली पड़ गई थीं और वह अपनी विशालता को सँभालने में असमर्थ हो गया था। शाहजहाँ और औरगजेब पूर्णतः अहंवादी सम्राट् थे—उनको अपने निर्णय अथवा न्याय-विचार म किसी प्रकार का हस्तक्षप सह्य नहीं था। इसलिए सम्राट् का अपना व्यक्तित्व साम्राज्य के लिए असीम महत्त्व रखता था। ये लोग अपने मत्री आप थे। इस भयंकर व्यक्तिवादी राजतंत्र का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल शासन न तो भारतीयों को एक राष्ट्र में परिणत कर पाया और न सशक्त स्थायी राज्य ही प्रतिष्ठित कर पाया। जनता को किसी प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता नहीं थी, उसे अपने न्याय-विचार या वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का कोई अधिकार नहीं था, राजनीतिक अधिकार तो उस समय अकल्पनीय थे। शासन पूर्णतः व्यक्ति की इच्छा पर था—जिसके लिए वैधानिक नियमों का कोई महत्त्व नहीं था, विद्रोह और क्रांति का ही भय था। मुग़ल सम्राटों की शासन-प्रणाली स्पष्ट रूप से सामन्तीय थी। अकबर के समय में राजकीय कर्मचारियों को नकद वेतन मिलता था, परन्तु शाहजहाँ के राजत्व-काल में आकर इन लोगों की संख्या इतनी बढ़ गई कि राज्य का कोष उसको पूरा न कर पाता था। अतएव शाहजहाँ को जागीर की प्रथा चलानी पड़ी। इस प्रकार उसके समय में साम्राज्य की शक्ति अमीरों और जागीरदारों के सैनिक-बल पर ही अवलम्बित रहती थी। परन्तु इनमें आपस में विद्वेष था और इनके पारस्परिक कलह और दलबन्दी राज-सेवा में प्रायः बाधक होते थे। औरंगजेब के समय में राज्य का खर्च और भी बढ़ गया था—वह हमेशा अपने जागीर-दारों और सामन्तों से बड़े-बड़े उपहार लेकर उसे पूरा करने की फ़िराक़ में रहता था।

एक प्रकार से वह ओहदे बेचने लग गया था। मुसलमान के लिए धार्मिक पाखण्ड, हिन्दू के लिए धर्म-परिवर्तन—और उन दोनों के लिए ही बड़ी-बड़ी भेटें—उस समय पद-प्राप्ति के साधन थे। इस प्रकार सामन्तीय शासन निर्बल हो गया था, बेचारे जागीरदारों को भेंट के रूप में इतना धन सम्राट् को देना पड़ता था कि वे अपना निर्वाह भी नहीं कर पाते थे। स्वभावतः उनके सैनिक-बल का ह्रास होने लगा था। वे छोटे-छोटे जमींदारों के उत्पातों का भी दमन नहीं कर पाते थे। सं० १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। अभी तक उसका दृढ़ व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सँभाले हुए था। उसकी मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने अपने सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने बृहत् राज्य को सँभालने में समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बड़े वेग से आरम्भ हो गया।

सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है। यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में १९१४ के गदर में जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ। मुगल-वंश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अन्तःपुर में क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव में विलासी, निर्वीर्य एवं व्यक्तित्व-हीन हो गए थे। मुगलों के-जैसे राजत्व-विधान के लिए, जहाँ सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट् के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गए थे। मुगल-दरबार स्वयं अमीरों और राजकीय अधिकारियों की उच्चाकांक्षाओं का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगों के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय में सैयद भाइयों और तूरानी सरदारों का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहों को बनाने-बिगाडने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना मे जाट और राजपूतों के विद्रोह हो रहे थे; दिल्ली के उत्तर में सिखों का प्रभुत्व बढ़ रहा था—बन्दा वैरागी के उपद्रवों ने बहादुरशाह ओर फर्रुखसियर दोनों के नाक में दम कर दिया था। दक्षिण में मराठों की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ़ रही थी। निर्बल मुगल शासक प्राय उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फर्मान देकर जैसे-तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे। इधर यूरोप से आई हुई व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दुस्तान की अव्यवस्था से उत्साहित होकर धीरे-धीरे, परन्तु दृढता से, अपने पैर फैला रही थीं। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने काफी प्रभुत्व जमा लिया था।

इतिहासकारो ने इस काल के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है—

१. पहले में मराठों का प्रभुत्व बढ़ा। सम्वत् १७९५ में नादिरशाह का हमला हुआ। हिन्दुस्तान की सेना अपना उत्साह और पराक्रम खो बैठी थी—अनुशासन सर्वथा शिथिल हो गया था। निदान नादिरशाह के विजयोत्साह के सम्मुख उसकी घोर पराजय हुई। मुहम्मदशाह बन्दी बना और दिल्ली म कत्ले-आम का हुक्म हुआ। सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रान्त ईरानियों के अधीन हुए। शासन और भी जर्जरित हो गया। अवध का सूबेदार सआदतअलीख़ाँ, बंगाल का अलीवर्दीख़ाँ और दक्षिण का निजामुलमुल्क आसफ़जाह स्वतन्त्र हो गए।

२. दूसरे भाग में अवध और दक्षिण के सूबेदारां के गृह-कलह से आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई। अफ़गान शासक अहमदशाह अब्दाली के हमले शुरू हो गए थे। सम्वत् १८१८ में उसने मराठों की सम्मिलित शक्ति को पूरी तरह से पराजित कर दिया। मराठों के वर्धमान प्रभत्व को पानीपत की पराजय से विशेष आघात पहुँचा। अंगरेजों का अधिकार विस्तृत हो चला। उन्होंने बक्सर के युद्ध में शाह आलम को हराकर अपने आश्रय में ले लिया और बंगाल, बिहार, उड़ीसा की दीवानी के बदले उसे इलाहाबाद और कड़ा के जिले दे दिए। इधर उन्होंने फ्रांसीसी सेना को भी पूरी तरह हराकर उसके बल को निःशेष कर दिया। मराठों का उत्कर्ष एक बार फिर हुआ, लेकिन आपस के संघर्षों से वह शीघ्र ही कुण्ठित हो गया।

३. पतन-काल के तीसरे भाग में मराठों की शक्ति भी निःशेष हो गई और अंगरेजों का प्रभत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दृढ़ हो गया। मुग़ल साम्राज्य अब केवल दिल्ली और आगरा के आस-पास तक ही सीमित रह गया था। इस प्रदेश को भी बेचारा शाह आलम अपने नियंत्रण में नहीं रख पाता था, क्योंकि उसके पास अपना कोई सैन्य-बल नहीं था। इस समय दिल्ली-दरबार की आन्तरिक राजनीति केवल उन षड्यंत्रों का इतिहास है जो दरबार के विभिन्न दलों में वजीर-पद की प्राप्ति के लिए हो रहे थे। इन षडयंत्रों में मराठे, जाट, रुहेले और अवध के नवाब मुख्य भाग ल रहे थे। उनकी छोटी-छोटी लड़ाइयों से उस समय का इतिहास भरा हुआ है।[१]

शाह आलम के बाद अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके समय में लखनऊ के नवाबों को बादशाह की उपाधि प्राप्त हुई, अंगरेजों ने उन्हें बादशाह स्वीकार किया। यह स्थिति भी बहुत दिनों तक न रही। अंगरेजों ने बंगाल के बाद बनारस, इलाहाबाद और अवध पर अधिकार कर लिया—और फिर कुछ समय में ही नामशेष मुग़ल राज्य का अंत करके सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय के एक पत्र में गवर्नर जनरल एलेनब्रुक ने रेजीडेण्ट टामस मेटकाफ़ को लिखा था—"बादशाह की ऊपरी शानो-शौक़त का शृंगार उतर चुका है।

१. डॉ० ताराचन्द—'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास'

उसके वैभव की पहली-सी चमक-दमक नहीं रही, इसलिए कलम के एक डोबे में बादशाह की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।"

इस युग में दूसरे हिन्दू-प्रदेशों की भी लगभग यही दशा थी जो दिल्ली राज्य की थी। हिन्दी के रीति-काव्य का सृजन और पोषण जिन प्रान्तों में हुआ वे हैं अवध, बुंदेलखंड और राजस्थान। अवध की राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख मुग़ल-साम्राज्य के प्रसंग म ऊपर हो ही चुका है। राजस्थान में इस समय मुख्य चार राज-वंश थे—अम्बेर के कछवाहे, मेवाड़ के सिसौदिया, मारवाड के राठौर और कोटा-बूंदी के हाड़ा। राजस्थान का इतिहास भी इस समय पतन का इतिहास है। इस का स्पष्ट प्रमाण यह है कि मुग़ल साम्राज्य के इस विनाश-काल में भी य लोग अपनी शक्तियों को सचित और एकत्रित करके हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाए। और, करते भी कैसे ? राजपूतों की अनादि काल से चली आई हुई फूट इस समय तो और भी जोरों पर थी। बहुपत्नीक राजपूत राजाओं के रनिवासों में मुग़ल हरमों की तरह आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का नग्न नृत्य होता था—एक-एक राजा की कई विवाहिता रानियाँ और अनेक रक्षिताएँ होती थीं। अहंकार इन राजपूतों म इतना भयंकर था कि उसके सम्मुख कोई भी आदर्श, कोई भी सम्बन्ध नही टिक सकता था। पिता-पुत्र में अधिकार के लिए युद्ध होना यहाँ भी मामूली बात थी। अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था, तो मारवाड़ का अमरसिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था। मेवाड़ में चण्डावत और शक्तावत-वशों में भयंकर गृह-कलह था, जिससे मेवाड़ की सम्पूर्ण शक्ति जर्जर हो गई थी। राजस्थान में पूर्णतः सामन्तीय शासन था, जिसमें सब-कुछ शासक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहता था। राजा का व्यक्तित्व ही शासन-चक्र की धुरी था, उसमें शिथिलता आ जाने से सम्पूर्ण व्यवस्था का छिन्न-भिन्न हो जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति की यह प्रधानता एक ओर राजपूतों में स्वामि-भक्ति, देश-प्रेम, जाति और धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था-जैसे चारित्रिक गुणों का विकास करती थी, दूसरी ओर निरन्तर अशांति गृह-कलह और वैयक्तिक अधिकार-चेष्टा को भी जन्म देती थी—जिसमें संगठन असंभव हो जाता था। बाह्य भय के अभाव में प्रायः आन्तरिक वैर-भावना उभर आती थी और वैयक्तिक प्रतिद्वन्द्वों के कारण सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती थी। जब राजपूत-वैयक्तिकता आन्तरिक संगठन में ही इतनी बाधक थी तो राजस्थान का जातीय संगठन कैसे सम्भव होता ? दो-एक बार मराठों और मुग़लों के विरुद्ध इस प्रकार संगठन के प्रयत्न भी हुए, परन्तु उनका कोई सत्परिणाम असम्भव था; क्योंकि राजपूतों का वंशगत अहंकार और उनके शत-शत अकारण विद्वेष किसी प्रकार के भी संगठन को विफल कर देते थे। उधर मुग़लों की पराधीनता से उनका नैतिक बल नष्ट हो

चुका था, अतएव उनमें स्थिरता और सच्ची देश-भक्ति का प्रायः अभाव ही था। उनकी ये उत्तेजनाएँ सन्निपात के रोगी की उत्तेजनाएँ ही थीं।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन से हम निम्न लिखित परिणामों पर पहुँचते हैं--

(१) समस्त देश युद्धों और विप्लवों से आक्रांत था, जिनके कारण व्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गई थी। केन्द्रीय शासन के निर्बल हो जाने से विभिन्न प्रांतों में छोटे-छोटे महत्त्वहीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुग़ल-साम्राज्य की विराट् गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति में क्षुद्रता आ गई थी।

(२) यह राजनीतिक अधःपतन का युग था। शासन-समुदाय में मौलिक प्रतिभा निःशेष हो चुकी थी। स्वयं औरंगजेब भी सफल राजनीतिज्ञ नहीं था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास, टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

(३) इस युग में उत्तरी भारत ने औरंगजेब को छोड़कर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न किया। मुग़ल-परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें उत्पन्न कर रहा था। औरंगजेब के सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग में नहीं पड़ा।

(४) इसी समय देश पर भयंकर बाह्य आक्रमण हुए--नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती हुई दीवारों को एक धक्के में धराशायी कर दिया। दिल्ली के क़त्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया।

(५) इस युग का शासन-विधान स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था, जो सैनिक सामन्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरंगजेब के अशक्त उत्तराधिकारियों के हाथ में पड़कर वह ऐसा अस्त-व्यस्त हो गया था कि उपर्युक्त विधान के सभी दुर्गुण उसमें उभर आए थे।

(६) शाहजहाँ ने अपने शासन-काल के उत्तरार्ध में जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था औरंगजेब ने उसे पूर्णता को पहुँचा दिया। परिणाम-स्वरूप हिन्दू और मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीखी चेतना उत्पन्न हो गई थी। दोनों ही निर्वीर्य हो चले थे। हिन्दू पादाक्रांत थे और मुसलमान विलास-जर्जर।

सामाजिक परिस्थिति

जैसा कि डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, भारतीय इतिहास यहाँ के सम्राटों के जीवन और उनकी विजय-पराजय का इतिहास है, विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त किसी भी देशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नहीं दिया--

"शाहजहाँ के समय में हिन्दुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था। सम्राट् इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर थे। इनके बाद साधारण कर्मचारियों का वर्ग था, जो राज्य के छोटे-छोटे विभागों में काम करते थे। उस समय का मध्यवर्ग अधिकतर इन्हीं लोगों से निर्मित था। इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दूकानदार आदि भी थे, परन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की स्थिति मे होते हुए भी शिक्षा, संस्कृति से हीन थे। निम्न वर्ग में नौकरीपेशा लोगों और मजदूरो के अतिरिक्त भारत का बहत् कृषक-समुदाय भी था, जो सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गो मे विभक्त किया जा सकता था——एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग मे कृषक-समुदाय और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामलों से सर्वथा पृथक् रहकर अपने खेती-व्यापार के कामों में लगे रहते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारो से लेकर उनके नौकर-चाकर और दासो तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी स्वभावत: इनकी श्रेष्ठतर थी। इन दोनो के बीच बहुत बड़ा अन्तर था——शासक और शासित——शोषक और शोषित का।"

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति :——इन दो वर्गो के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग विद्वानों का था, जो बादशाह, बड़े अमीरों और छोटे-छोटे रईसों के आश्रय में रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार इस युग में कवियों और कलावन्तों की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्राय: निम्न और मध्य वर्ग से होता था, परन्तु रहते थे उच्च वर्ग के आश्रय में। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गो के विभिन्न संस्कारों से ही होता था फिर भी उसमें प्रधानता उच्च वर्ग के सस्कारों और उसी की आशा-आकाक्षाओ की रहती थी, क्योंकि बाद मे निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नही रह जाता था। निम्न वर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इनकी कृतियों पर पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके। परन्तु शाहजहाँ के उपरांत इन लोगों के लिए राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया और औरंगजेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य की शक्ति का विकेन्द्रीकरण वेग से आरम्भ हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि और कलाकार भी दिल्ली के दरबार को छोड़कर विभिन्न राजाओं, सूबेदारों, नवाबों और रईसों के दरबार में बिखर गए। स्वभावत: उनकी भी सामाजिक स्थिति बहुत गिर गई।

मुगल-परिवार और मुगल-दरबार :——शाहजहाँ का राज्य-काल वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बर्नियर, ट्रेवर्नियर, मैनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् के दरबार का

ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध हो गए थे। उन सभी ने चित्रमय मुग़ल-दरबार की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। सम्राट् की व्यक्तिगत जीवन-चर्या पर अपार धन-राशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुग़ल-परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असम्भव था। सम्राट् के लिए प्रति वर्ष एक हज़ार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार में आने वाले अमीर उमराओं को भेंट कर दिए जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण-खचित वस्त्रों, रत्न-हारों और बहुमूल्य इत्रों से आपूर्ण रहता था। मुग़ल-अन्तःपुर का वैभव इन्द्र-भवन को मात करता था। बर्नियर लिखता है—"मैंने (मुग़ल-हरम में) प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहिरात देखे हैं, जिनमें बाज़ तो असाधारण हैं।......वे इन मोती की मालाओं को कन्धों पर ओढनी की तरह पहनती है। इनके साथ दोनों तरफ मोतियो की कितनी ही मालाएँ होती है। सिर में वे मोतियों का गुच्छा-सा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहिरात का बना हुआ सूरज. और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ़ एक गोल छोटा-सा गहना होता है, जिसमें दो मोतियों के बीच जड़ा हुआ एक छोटा-सा लाल होता है। कानों मे बहुमूल्य आभूषण पहनती हैं और गर्दन के चारों तरफ़ बड़े-बड़ मोतियों तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार, जिनके बीच में एक बहुत बड़ा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारों तरफ़ बड़े-बडे मोतियों के दाने होते हैं।..." एक शब्द में इन बगमों का सारा शरीर आपादचूड़ जवाहरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र म बसी हुई होती थीं—दिन में न जाने कितनी बार ये वस्त्र बदलती थीं। रीति-काव्य की वासक-सज्जाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती होगी। दरबार के अमीरों और कर्मचारियों का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजा भी अपने मुग़ल-अधिपतियों का अनुसरण करते थे। उनके महलों में भी इन्द्र-सभा जुड़ी रहती थी। अवध के नवाबों और जयपुर, मारवाड़ आदि के हिन्दू राजाओं के जीवन-वृत्त इसके साक्षी हैं। ये लोग भव्य भवनों में रहते थे, जो विलास की सामग्री से जगर-मगर होते थे। उत्सवों और पर्वों के दिनों में इनमें शोभा का स्वर्ग उतर आता था। तुलना कीजिए :

(१) प्रतिबिम्बित जय साह-दुति दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौ कर्‌यौ काय-ब्यूहु मनु काम॥

(बिहारी-सतसई)

(२) फटिक सिलान सों सुधारयो सुधा-मंदिर,
उदधि-दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद।

बाहिर ते भीतर लौं भीति न दिखय 'देव'
दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद ।।
तारा-सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलिमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी-से अम्बर में आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चंद ।।

(देव : 'सुजान विनोद')

नगर से बाहर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे और स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खड़े हुए बिहारी और देव-जैसे अनेक रसिक 'मणि कुच आँचर बिच बाँह देकर' भीगे-पट घर को जाने वाली सुन्दरियों की शोभा निरखते रहते होंगे। औरंगजेब के बाद जब देश की समृद्धि का क्षय होने लगा तो वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया, जो घोरतर पतन का सूचक था।

विलास और श्रृंगारिकता :—वैभव और विलास का सहज सम्बन्ध है। अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था। मुगल अंतःपुर में हजारों स्त्रियाँ रहती थीं। बर्नियर के साक्ष्य के अनुसार बहुधा राज-महलों में भी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियों की २००० स्त्रियाँ रहती थीं—जिनके कर्तव्य-कर्म भिन्न-भिन्न होते थे। इनमें अनेक बादशाह की सेवा और बहुत-सी शाहजादियों के मनोरंजन और शिक्षा आदि के लिए नियुक्त थीं। शिक्षा प्रायः आशिकाना गज़लों, फ़ारस की अश्लील प्रेम-कहानियों आदि की ही होती थी। इनमें से बुड्ढी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखे, फ़रेब या लालच से महल में ले आती थीं। रीति-काव्य की दूतियाँ बहुत-कुछ इनका ही प्रतिरूप थीं। सम्राट् के महलों में सुन्दरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार था। मदिरा-पान उस समय का सबसे भयंकर व्यसन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से धार्मिक निषेधों का उपहास करते हुए मदिरा का निर्बाध सेवन करते थे। अमीरों और राजाओं के महलों में श्रृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरों में भी वेश्याओं का जमाव रहता था—मुग़ल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी बृहत् सेना चला करती थी। छोटे-छोटे अधिकारियों और रईसों के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग-विलास में ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियों के अष्टयामों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।

औरंगजेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया, उसने सुरा और अन्य मादक वस्तुओं को निषिद्ध कर दिया। वेश्याओं को शादी के लिए मजबूर किया,

परन्तु समस्त देश में वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवादी सम्राट् के सभी निषेध-प्रयत्न उसमें बह गए। अमीर-उमराओं ने उसके निषेध-पत्रों को शराब की सुराही में उसी तरह गर्क कर दिया, जिस तरह कि कुछ वर्ष बाद स्वयं औरंगजेब के उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह रँगीले ने नादिरशाह के पत्र को गर्क कर दिया था। मदिरा और प्रमदा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में वर्तमान थे। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और पकवानों का उपयोग होता था। साहित्य में बदनाम 'पद्माकर' का यह छंद उसकी एक क्षीण झाँकी-भर देता है:

गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज है सुराही है, सुरा है और प्याला है॥
शिशर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाल हैं।
तानतुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं,
सुबाला है दुशाला है बिशाल चित्रशाला है॥

(जगद्विनोद)

विलास की अगणित ललित क्रीडाओं का संचय था। अंतःपुर में शतरंज, चौसर और गंजफा के खेल इनका मनोरंजन करते थे, बाहर शिकार या पतंगबाजी, तरह-तरह के पशु-पक्षी—कबूतर, लाल, तोता, मैना आदि के स्वरों से रनवास गूँजते रहते थे। अकबर के ज़माने की हाथी और चीतों की लड़ाई का स्थान अब बाज और सिकरों की लड़ाई ने ले लिया था।

बिहारी के अनेक दोहों में इनका प्रतिबिम्ब मिलता है:

(अ) उड़त गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

(आ) ऊँचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहि हेतु॥

(सतसई)

देश की परिस्थिति ज्यों-ज्यों बिगड़ती गई, त्यों-त्यों विलास के ये साधन भी अधिक अस्वस्थ होते गए, जिनसे समाज का मानस पूर्णतः विकृत हो गया।

श्रमीवर्ग:—श्रमी वर्ग की दशा इसके बिलकुल विपरीत थी। वर्ण-व्यवस्था का लोप हो चुका था, अतः समाज व्यवसाय और पेशों के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त था। सभी वर्णों के लोग सुविधानुसार प्रायः सभी काम करते थे, परन्तु इन बेचारों का जीवन दैन्य और शोषण से आक्रान्त था। इनमें अधिकतर आबादी किसानों ही की थी।

दिन-भर काम करने के उपरान्त ये गरीब सिर्फ एक बार ही भोजन कर पाते थे। मुग़ल बादशाहों के असख्य युद्धों, बहुमूल्य इमारतों, उनके और उनके अमीरों के विलास-वैभव सभी का भार अंत में जाकर इन किसानों पर ही पड़ता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगो की हड्डियों पर खड़े हुए थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूंदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। राजा के अबाध अपव्यय की क्षति-पूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी; कर्मचारीगण राजा का और अपना उदर किसानों का खून चूसकर भरते थे। सम्राट, सूबेदार, फौजदार, जमींदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिसके कष्टों को केवल भगवान् ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारों की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उनकी हरी-भरी फसलों को तहस-नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी। मजदूरों और कारीगरों को यों ही बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मजदूरी अक्सर कोड़े से मिलती थी। उधर भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोपों ने उनका जीवन असह्य कर दिया था। इस प्रकार हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति एक साथ बिगड़ गई थी। देश की धन-समृद्धि का ही नाश नही हुआ, वरन् शिल्प, कौशल, सस्कृति और कला की भी दुर्गति हो गई थी।

हिन्दू-मुसलमानों की जातीय स्थिति :—हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय सगठन को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया था। किसी दृढ आधार के अभाव में हिन्दुओ मे जाति-भेद की भावना प्रबल हो उठी थी। वेद-मन्त्रों के उच्चारण अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारो को लेकर उनमें आपस में भयंकर संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक दम्भ अबाध गति से बढ़ रहा था। शूद्र सर्वथा अस्पृश्य समझे जाते थे, उधर मुसलमान समस्त हिन्दू जाति को ही हीन समझते थे। शासन उनका था ही, अतएव हिन्दुओ की अपेक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का श्रेष्ठतर होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के साथ शाहजहाँ के समय से ही ज्यादतियाँ हो रही थीं, उनके मन्दिर तुड़वा दिए गए थे। विद्यालय और पुस्तकालय नष्ट कर दिए गए थे; उत्सव और मेलों पर प्रतिबन्ध था। राज्य के पदाधिकार उनके लिए प्रायः वर्जित ही थे। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र चेतना अब भी बनी हुई थी। परन्तु औरंगजेब के बाद ज्यों-ज्यों मुग़ल-शासन क्षीण होता गया और देश विपत्ति-ग्रस्त होता गया, यह पार्थक्य कुछ कम अवश्य होने लगा था। उनके सामाजिक सम्पर्क गहरे होने लगे—निर्गुण सन्तों और सूफी फकीरों के प्रभाव से उनकी धार्मिक भावनाओं में भी थोड़ा-बहुत समन्वय हुआ। उधर उनके पारस्परिक आचार-विचारों में भी बहुत-कुछ समता आ गई। हिन्दू-मुसलमानों के उत्सव, संस्कार, रीति-रिवाज, आमोद-प्रमोद आदि में साधारणतः भेद करना कठिन हो गया। गाँव के लोगों के व्यवहारों में तो यह अभेद और भी अधिक था। परन्तु यह

एकता किसी प्रकार स्थायी नहीं थी--थोड़े से भी उलट-फेर से स्थिति बिगड़ जाती थी, स्वयं मुसलमानों में शिया और सुन्नी का, तूरानी और ईरानी का भयंकर भेद-भाव था।

नैतिक अवस्था :--राजनीतिक और सामाजिक अधोगति का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक अधोगति। हिन्दू युग-युग से पदाक्रान्त रहने के कारण और मुसलमान विलास तथा आन्तरिक एवं बाह्य द्वन्द्वों से जर्जर होकर अपना नैतिक बल खो बैठे थे। दोनों की निर्बाध इन्द्रिय-लिप्सा की ओर संकेत ऊपर हो चुका है, पर वह नैतिकता का एक पहलू है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस युग में सर्वथा दुर्बल हो गए थ। अपने अनियन्त्रित अपव्यय को भरने के लिए कर्मचारीवर्ग खुले-आम रिश्वत लेता था। बड़े-बड़ अधिकारियों से लेकर छोटे-छोटे कर्मचारियों तक रिश्वत का बाजार गर्म था। स्वयं बादशाह ओहदे बेचते थे और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों को उत्कोच देकर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न भी करते थे। औरंगजेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार विजय किये। अनेक हिन्दुओं को धन और ओहदों का लालच देकर मुसलमान बनाया। उसके बाद के सम्राट् शक्तिशाली अमीरों और बाह्य आक्रमणकारियों से घूस देकर ही अपनी रक्षा करते रहे। शाही खानदान विलासजन्य दुर्गुणों का केन्द्र था--वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट और षड्यन्त्रों का नंगा नाच होता था। उत्तराधिकार के लिए होने वाले षड्यन्त्रों और युद्धों में मुग़ल-राजकुमारों ने जिस नृशंसता और पापाचार का परिचय दिया उसका नैतिक प्रभाव जनता पर बहुत ही बुरा पड़ा। प्रजा के हृदय से स्वामि-भक्ति, सत्याचरण और कर्तव्य-निष्ठा की भावनाएँ लुप्त हो गईं, स्वार्थ-साधना प्रबल हो उठी। बाद में जहाँदार-शाह-जैसे बादशाहों ने तो मुग़ल-वंश का गौरव बिलकुल ही धूल में मिला दिया। उसकी रखैल लाल कुँवर स्वयं सम्राट् और बड़े-बडे अमीरों का जनता में अपमान कर देती थी। यही व्यवहार राजपूताना में मारवाड़-नरेश विजयसिंह की पासबनी वेश्या उसके और उसके सामन्तों के साथ कर रही थी। शाहज़ादों, राज-पुत्रों एवं अमीरजादों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं था। उनका भरण-पोषण जिस कलुषित वातावरण मे होता था, वह उन्हें विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था--उन पर हिजड़ों और युवती दासियों का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवकों से अधिक सम्मान नहीं पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्जा तफख्खुर की तरह बाजार म आवारागर्दी और औरतों से छेड़-छाड़ शुरू कर देते थे। जनता के आचार-रक्षकों के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे। नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णतः भाग्यवादी बन गए थे। सभी वर्ग के लोगों की ज्योतिष में प्रगाढ़ आस्था थी--सम्राट् और अमीरों के साथ-साथ ज्योतिषियों का एक समुदाय चलता था। हिन्दू-नृपतियों की अंध आस्था का तो कहना ही क्या? वे तो शकुन के बिना पत्ता भी नहीं तोड़ सकते थे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। वास्तव में इस सम्पूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अन्धकार आच्छादित किय हुए था। शाह-

जहाँ और औरंगजेब के पत्रों में—इस युग की सभी घटनाओं में—विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है, और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह छाया भी गहरी ही होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओं ने बाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे। निदान, लोगों की वृत्तियाँ अंतर्मुखी होकर अस्वस्थ काम-विलास में ही अपने को व्यक्त करती थीं। बाह्य जीवन से त्रस्त होकर उन्हें अंतःपुर की रमणियों की गोद में ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा से ही अपन रङ्गों का संचय कर रही थी। युग-जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गई थी।

धार्मिक परिस्थिति

धर्म की स्थिति और भी दयनीय थी। जैसा डॉ० तारा- चन्द ने लिखा है—इस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियों में तीन प्रकार के लोग थे: पहला वर्ग विद्वानों, पण्डितों और मौलवियों का था, जो विधिवत् शास्त्रीय धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थ। ये लोग अपने धर्म-ग्रन्थों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे। अपना धर्म इनके लिए एक सनातन सत्य था और शास्त्रों की वाणी ईश्वर की वाणी थी, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था। हिन्दी प्रान्तों में. शास्त्रीय धर्मों में इस समय मुख्यतः वैष्णव धर्म की शाखा-प्रशाखाओं का प्रचार था और उनम भी सबसे अधिक प्रचलित थी कृष्ण-भक्ति शाखा, क्योंकि वही युग की प्रवृत्ति के अनुकूल थी। कृष्ण-सम्प्रदाय में भी इस समय तक कई उप-सम्प्रदाय आवि-र्भूत हो गए थे और विभिन्न स्थानों पर उनकी गद्दियाँ विद्यमान थीं। वल्लभ-सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरांत उनके सात पुत्रों ने गोकुल, कामबन, काँकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई और काशी में भिन्न-भिन्न सात गद्दियाँ स्थापित कर ली थीं। इन लोगों में अनेक विद्वान् हुए—उदाहरणार्थ काँकरौली के गो० हरिरायजी महाराज, जिन्होंने श्रीनाथजी की 'प्राकट्य वार्ता' का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अन्य गोस्वा-मियों ने भी वल्लभाचार्य के अणु-भाष्य की व्याख्या करने का क्रम प्रचलित रखा, परन्तु गोकुलनाथजी के उपरांत इस सम्प्रदाय में किसी ने भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। बाद में गद्दियों के स्थापित हो जाने से इन लोगों पर भी देश की तत्कालीन लोक-रुचि का प्रभाव पड़ा। वैभव के अभिशाप से ये भी अछूते नहीं रह पाए। इन गोस्वामियों का सम्पर्क राजाओं और श्रीमानों से बढ़ने लगा और ये उन्हें ही गुरु-दीक्षा देने के लिए लालायित रहने लगे। जनता की इनकी गद्दियों में कोई पूछ नहीं थी, और चूंकि य लोग जनता में बाहर जाकर धर्म का प्रचार नहीं करते थे, अतएव उससे उनका सम्पर्क स्वभावतः ही कम हो गया था। साथ ही राजसी ठाठ-बाट के वातावरण में रहने के कारण इनकी साधना और तत्त्व-चिंतन में भी शैथिल्य आ गया था। धर्म का तात्विक

विकास एकदम रुक गया था और उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यन्त समृद्ध हो गए थे। सेवा-अर्चना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार हो गया था। जब भक्त लोग इस प्रकार ऐश्वर्य और विलास में संलग्न थे, तो भगवान् उससे कैसे वंचित रहते।

उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किये गए थे कि "अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती, या कुतुबशाह भी अपने अन्तःपुर में उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते।" यही दशा माधव, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधा-वल्लभीय सम्प्रदायों की गद्दियों की थी। उनमें राधा की महत्ता के कारण शृंगार-भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी।

चैतन्य-सम्प्रदाय का वृन्दावन और बंगाल में खूब जोर था। कीर्तन की लोक-प्रियता के कारण उसका जनता से घनिष्ठ सम्पर्क था। अतः उसमें अपेक्षाकृत जीवन भी अधिक था। परन्तु उसने लोगों की भक्ति-भावना के साथ परकीया भाव को भी प्रोत्साहन दिया। उधर रूपगोस्वामी ने सम्पूर्ण नायिका-भेद को ही कृष्ण-भक्ति में फिट कर दिया। कृष्ण-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार तत्त्व-चिन्तन क्षीण और बाह्य अर्चन-विलास समृद्ध हो चला था।

मठ और मन्दिर देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छन-छन से गूँजते रहते थे। महाराष्ट्र में अवश्य इस समय तुकाराम के अभंगो और रामदास के 'दास बोध' द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। तुकाराम, तुलसी और सूर की कोटि के सन्त और कवि थे। उनके अभंगों ने दक्षिण भारत की जनता को शुद्ध भक्ति-रस मे विभोर कर दिया, और उधर रामदास न भी जीवन-गत धर्म की प्रतिष्ठा करके जनता में उत्साह और शक्ति का संचार किया। सिख धर्म मे भी यथेष्ट जीवन था, परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी-प्रांतों से बाहर पड़ती थीं। अतएव हिन्दी-साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। तात्पर्य यह है कि जन-जीवन की धारा से असम्पृक्त रहकर धर्म इस युग में रूढ़िवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमें नहीं रह गई थी। संपन्न हिन्दुओं मे धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी, केवल धर्म-भीरुता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उनके निकट सम्पर्क में आने वाले उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण हो गया था। मुसलमानों के लिए तो इस ऐहिकता को स्वीकार कर लेना सहज था, परन्तु हिन्दुओं का पूरी तरह इसी रंग में रँग जाना उतना सरल नहीं था। उनकी प्रवृत्ति उन्हें एहिकता की ओर खींचती थी, परन्तु संस्कारों पर परलोकवाद का बोझ था। परिणाम यह हुआ कि धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया। धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गए और विलासी लोग धर्म के उन्हीं शृङ्गारपरक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलास-

पूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा विजेताओं का धर्म होने का लाभ था, परन्तु उसके अनुयायियों का भी धार्मिक जोश ठण्डा पड़ गया था। मुल्ला और मौलवी यद्यपि अब भी विभिन्न जल-वायु और देश-काल में रची हुई कुरान की आयतों का कट्टरता से पालन कर रहे थे। 'हिफ्जे कलामुल्लाह' का अब भी उनको उतना ही आग्रह था, परन्तु मुसलमानों के राजनीतिक और नैतिक अधःपतन का प्रभाव इस्लाम पर भी पड़े बिना नहीं रहा था। उनमें भी रूढिवाद का प्रचार बढ़ रहा था। मुसलमान जनता की आत्मिक तृप्ति कुरान को हिफ्ज करने भर से नहीं होती थी, क्योंकि हिन्दू शास्त्रों की भाँति कुरान भी सामयिक जीवन के प्रवाह से दूर पड़ गया था। रीति-काल में धार्मिक अभिजात्य की यही दशा थी।

इनको छोड़कर अब दूसरे बृहत् वर्ग पर आइए। यह अशिक्षित जन-समुदाय का वर्ग था। ये लोग स्वभावतः अन्ध-विश्वासी थे। इनकी भक्ति-भावना धर्म के बाह्यागों तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत-तीर्थ आदि मे विश्वास करते थे। सन्तों और पीरों की सब प्रकार की अन्ध-परम्पराओं और रीतियों का पालन करते थे। जादू-टोने में भी इन्हें प्रगाढ विश्वास था। झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री-पुरुष पीरों के तकियों पर अपनी मुरादें लिये पहुँचा करते थे और ये लोग, जो अधिकांश में रँगे हुए सियार होते थे, उनको फर्जी ताबीज़ वगैरह देकर खूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य-पूजा भी अपनी विकृत रूप में वर्तमान थी। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अपने गुरुओं और पीरों को ईश्वर का दर्जा देने लग गए थे। डॉक्टर सरकार लिखते हैं कि हिन्दुओं का अन्ध-विश्वास यहाँ तक बढ़ गया था कि वे प्रत्येक विशाल बाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार मानकर पूजना शुरू कर देते थे। इतना होने पर भी बहुत बड़ी संख्या राम-कृष्ण के ही उपासको की थी। राम और कृष्ण की जीवन-गाथा ही इनके लिए धर्म-ग्रन्थ थी। वर्ष में राम-लीला नियमित रूप से हुआ करती थी और विभिन्न पर्वों पर उत्सवों तथा कथा-कीर्तनों का आयोजन किया जाता था जिनमें 'रामचरितमानस' की कथा होती थी, सूरदास और मीरा के पद गाये जाते थे। मुसलमानों में उर्स होते थे, जहाँ सूफ़ियाना ग़ज़लें और कव्वाली गा-गाकर वे लोग अपनी भक्ति-भावना प्रकट करते थे। इस प्रकार जनता की धर्म भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही लौकिक संकटों में ग्रस्त नर-नारियों के हृदय में परलोक की आशा उत्पन्न करके उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा उसका जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता में अन्ध-विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्य-प्रति के संघर्ष से था। यह परम्परा का पालन-मात्र नहीं था, जीवन की आवश्यकता थी।

इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा उदार वर्ग भी था जो शास्त्रीय कट्टर-

रता और रूढ़िवाद से दूर रहकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक समान आधार पर संयुक्त कर रहा था। यह वर्ग कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों की परम्परा का अनुयायी था। इनका मूल सिद्धान्त था ईश्वर की अविभाज्य एकता; जिसका आधार हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानों का एकेश्वरवाद था। ईश्वर की एकता का स्वाभाविक परिणाम है सृष्टि की एकता—अर्थात् जीव-मात्र की समानता। ईश्वर के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह उसकी सृष्टि के जीव-मात्र से समान प्रेम करे। अतएव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र का अन्तर मिथ्या है। संसार दुःखों की खान है। इसलिए संसार से विमुख होकर परमार्थी को ईश्वर से प्रेम करना चाहिए। जीवन में त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। तत्त्व-चिंतन और आंतरिक भक्ति से परमात्मा मिलता है बाह्य आचारों से नहीं। स्वभावतः ये लोग व्रत, तीर्थ, रोजा, नमाज़, जात-पाँत, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और शास्त्रीय धर्म की अन्य विधियों का तिरस्कार करके केवल आत्मशुद्धि को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इनके लिए निर्गुण ब्रह्म में लीन होना ही मानव-जीवन की सार्थकता थी। प्रेम का मार्ग बड़ा कठिन है, उस पर चलना गुरु के बिना असम्भव है। अतएव सन्त गुरु की इन सम्प्रदायों में बड़ी महिमा थी। इन सन्तों ने हिन्दुओं से योग और सूफ़ियों से प्रेम की भावना ग्रहण की थी।

हिन्दुओं में इस प्रकार के अनेक पंथ वर्तमान थे जिनमें सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि सत्रहवीं शताब्दी में प्रमुख थे। धरनीदास और प्राणनाथ के अनुयायियों का प्रचार-काल अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक था। इनमें जगजीवन, बुल्ला साहब, चरनदास और उनकी दो शिष्याएँ सहजोबाई और दयाबाई अपने पवित्र जीवन और मधुर बानियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके बाद दूलनदास, भीखा, पलटूदास आदि हुए, जो उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रहे। ये पंथ भेद-भाव से रहित होने के कारण पूर्णतः सुसंगठित थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी शक्ति का परिचय भी दे सकते थे, जैसा कि औरंगजेब के समय में सतनामियों ने किया। इनमें से काफी ऐसे भी थे जो संयत रूप से सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। घर-बार छोड़कर जंगल में धूनी रमाना इन्हें प्रिय नहीं था। ये विवाहित थे और स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग में से उद्भूत होने के कारण इनमें सामाजिक मिथ्याचार नहीं था। इसलिए उपेक्षित जनता पर इनका अधिक प्रभाव था। लेकिन धीरे-धीरे सम्पन्न व्यक्तियों के दीक्षित होने से इनमें भी गद्दियाँ बनने लग गई थीं, जिससे इनमें भी विलास-वैभव की तृष्णा उत्पन्न हो चली थी।

मुसलमानों में भी इनके समानान्तर कई सिलसिले थे, जिनमें शेख़ मुइनुद्दीन चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला सबसे अधिक प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त निज़ामिया, नक्शबन्दियाँ, क़ादिरिया, शत्तारिया इत्यादि और भी सिलसिले काफी लोकप्रिय थे। हिन्दुओं के पंथों और मुसलमानों के इन सिलसिलों में बहुत सी बातें मिलती-

जुलती थीं–"दोनों का विश्वास था कि ईश्वर एक है, पर उसके अनेक नाम हैं। दोनों समझते थ कि बिना किसी धार्मिक शिक्षक (गुरु या पीर) की शरण लिये मुक्ति प्राप्त करना कठिन है। आत्मा को पहचानने के लिए वे एक ही प्रकार के तरीकों का व्यवहार करते थे। दोनों ध्यान और समाधि के साधन और इस मार्ग के अनुभव और अवस्थाएँ एक समान जानते थे। दोनों कपट, दिखावटी कर्म-काण्ड और पूजा-पाठ को, आदमी-आदमी के भेदों को, वह जन्म, धन या स्थिति चाहे किसी पर निर्भर हों, बुरा कहते थे। शान्ति और तपस्या के जीवन का एक-मात्र आदर्श उन्हें आकर्षित करना था। दोनों के हृदयों में इस संसार के त्याग की परमाकांक्षा थी और दोनों का उद्देश्य ईश्वर के प्रेम का जीवन था। यह पवित्र धर्म मनुष्यों की आत्मा और चरित्र को ऊँचा उठाना था। इसके प्रभाव से समाज में सब वर्णों और जातियों के लोगों की स्वतन्त्रता और बराबरी की समान इच्छा जागृत हुई। मनुष्य का स्त्रियों के प्रति भाव बदलने लगा, बहुत से सुधार के कार्य उठाये गए और हिन्दुओं मुसलमानों मे निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ।"[1]

फिर भी समग्र रूप में विचार करते हुए, इन पंथ-प्रवर्तकों को विशेष महत्त्व देना अनुचित होगा, क्योंकि इनमें से कोई भी मौलिक प्रतिभावान नहीं था। इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों की क्षीण पुनरावृत्ति-मात्र थे। इनमें से किसी ने भी तत्त्व-दर्शन में कोई मौलिक योग नहीं दिया और न सन्त-साहित्य की विशेष श्री-वृद्धि ही की। कबीर की क्रान्तदर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दर-दास की विद्वत्ता इनमें दुर्लभ थी। ये लोग तो बानियों के प्रचारक-मात्र थे–स्रष्टा नहीं। प्रगति और सुधार का वह दुर्दम उत्साह, आहत आत्मा की वह पुकार, जिसने १५ वीं शताब्दी में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी, इस पतन-काल में सम्भव नहीं थी।

बौद्धिक ह्रासः––इस समय हिन्दुस्तानियों का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था। हिन्दुओं के लिए पृथ्वी और स्वर्ग दोनों का ही मार्ग बन्द था, उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए कोई क्षेत्र नहीं था। युग-युग की दासता ने उनके नैतिक बल के साथ बौद्धिक प्रतिभा भी नष्ट कर दी थी। 'रामचरितमानस' के स्थान पर अब 'ब्रज-विलास' की ही रचना हो सकती थी। सूर और नन्ददास की प्रतिभा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, परन्तु उनकी शृङ्गारिकता का निर्जीव अनुकरण अब भी बड़े उत्साह के साथ हो रहा था। कृष्ण-काव्य की दिव्य प्रेरणा के स्थान पर अब स्थूल ऐन्द्रियता या निष्प्राण अलंकरण ही शेष रह गया था। अयोध्या के भक्त कवि राम का भी इसी रूप में अत्यन्त शृङ्गारिक चित्रण कर रहे थे। कबीर का स्थान उधर

१. डा० ताराचन्द–'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास।'

पलटू या भीखा साहब ने ले लिया था। संस्कृत-साहित्य का विकास तो जैसे सर्वथा अवरुद्ध-सा ही हो गया था। पण्डितराज जगन्नाथ के उपरान्त साहित्य-शास्त्र में केवल 'नञ्जराज यशोभूषण' का नाम मिलता है, जो कि कवि-शिक्षा का एक अत्यन्त साधारण ग्रन्थ है। काव्य में जो दो-एक ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें चमत्कार-क्रीड़ा और घोर शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति ही शेष है। मोरो पंत की 'मंत्र-रामायण' शाब्दिक क्रीडा का और लक्ष्मणाचार्य की 'चण्डी-कुच-पंचाशिका' घोर शृङ्गारिकता का निकृष्ट उदाहरण है।

मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बड़े वेग से हो रहा था। अकबर-जैसे उदराशय सम्राट् के सामने सभी को आत्माभिव्यक्ति का समुचित अवसर मिलता था। दूसरे, मुसलमान हिन्दुस्तान को ही अपना देश समझने लगे थे। अतएव उनकी सभ्यता, संस्कृति और उनके साथ उनकी प्रतिभा का यहाँ की उर्वरा भूमि में सहज विकास हो रहा था। परन्तु औरंगजेब की संकुचित मनोवृत्ति ने एक ओर तो मुसलमानों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी कि उनकी मातृभूमि अरब ही है—अरब और फ़ारस की सस्कृति ही उनकी संस्कृति है, दूसरी ओर उसकी कठोर अहंवादी नीति ने अपने पुत्रों तक को व्यक्तित्व-विकास का अवसर नहीं दिया था—अमीर उमराओं की तो बात ही क्या? उस समय प्रतिभा का विकास राज-दरबार के आश्रय में ही सम्भव था—परन्तु राज-दरबार का वातावरण उसके लिए सर्वथा प्रतिकूल हो गया था। इसके अतिरिक्त अरब-फ़ारस की सस्कृति से कृत्रिम प्रेरणा प्राप्त करने वाली प्रतिभा भी कैसे पनप सकती थी? मुसलमानों का साहित्यिक माध्यम भी फ़ारसी ही थी परन्तु फ़ारस में हिन्दुस्तान के अच्छे-से-अच्छे कवि की गणना साधारण श्रेणी के अन्तर्गत की जाती थी। खुसरो और फैजी तक को दूसरी श्रेणी का कवि माना जाता था—फिर जत्ताली की तो पूछ ही कहाँ होती? शाहजहाँ के समय से ही फ़ारसी साहित्य का ह्रास आरम्भ हो गया था। अकबर के समय जो साहित्य रचा गया था—उसमें तत्कालीन सम्राट् के व्यक्तित्व और उससे प्रभावित लोक-जीवन की उदारता उच्चाशा-आकांक्षाओं का विस्तार और बल था। परन्तु उसके बाद विस्तार और मुक्त प्रगति में अवरोध आरम्भ हो गया, शांति की स्थिरता आने लगी; जो क्रमशः विलास और अलंकरण की ओर झुकती गई। फलतः साहित्य में भी नैतिक स्फूर्ति और सशक्त शैली के स्थान पर अलंकृति का प्राधान्य होने लगा। इस समय का फ़ारसी गद्य भी अत्यन्त अलंकृत है—उसमें सर्वत्र शब्द और अर्थ का चमत्कार और भाषा की ललित क्रीड़ा मिलती है—'चार चमन' इस प्रकार के गद्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। औरंगजेब के बाद तो मुसलमानों की स्थिति बिगड़ती हो गई, उनकी विलास-जीर्ण जाति शताब्दियों बाद कहीं मीर और ग़ालिब पैदा करने में समर्थ हो सकी।

कला की प्रवृत्ति

मुग़ल वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कलाप्रिय मुग़ल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुग़ल शैली का निर्माण किया, जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं और जवाहरात—सोने-चाँदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है।

स्थापत्य-कला:—शाहजहाँ के राजत्व-काल में स्थापत्य-कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँच गई थी, उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम सगमरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरा में मोती मसजिद और ताजमहल का निर्माण किया और अपने राजत्व-काल के उत्तरार्ध में दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन-विन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एक-मात्र स्वर्ग दीवाने-ख़ास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है। अकबर की इमारतों के विराट् सौंदर्य के विपरीत, शाहजहाँ की इमारतों का सौंदर्य सूक्ष्म—कोमल है। एक की कला में यदि महाकाव्य (रामचरितमानस) की विराट् गरिमा और दिगंत विस्तार है तो दूसरे की कला में अलंकृत गीत-काव्य (बिहारी के दोहों) की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र कला यहाँ चरम समृद्धि को पहुँच गई है—सोने के रंग का मुक्त प्रयोग है, मणियों का जड़ाव और नक्काशी की सूक्ष्मता अद्भुत है। शाहजहाँ के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रण-कला की विशेषताएँ अधिक हैं। ताज मूर्ति-कला की कृति ही अधिक है और दीवाने-ख़ास चित्रण-कला की। औरंगजेब के सिंहासनारोहण के उपरान्त मुग़ल साम्राज्य के क्षय के साथ ललित कलाओं की भी दुर्दशा होने लगी। औरंगजेब सर्वथा अरसिक धर्म-प्राण व्यक्ति था, वह ललित-कलाओं को--लालित्य-मात्र को—जीवन का पतन-समझता था, अतएव शुरू से ही उसने उनके ख़िलाफ़ जहाद बोल दिया। उसने धार्मिक जोश में आकर कई मंदिरों को, जो हिन्दू-स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे, धराशायी करा दिया—उसकी कर्तव्य-कठोर आत्मा में सौंदर्य के प्रति जैसे कोई मोह ही नही था। वास्तु-कला के विरुद्ध यद्यपि उसे कोई धार्मिक विद्रोह नहीं होना चाहिए था, परन्तु फिर भी उसके समय में उल्लेख-योग्य दो मसजिदें और एक मक़बरा ही बन पाया। इनमें लाहौर की मसजिद अपेक्षाकृत सुन्दर है। परन्तु कला की दृष्टि से वह जामा मसजिद का, जैसा कि फर्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण-मात्र है। दूसरी मसजिद जीनतुन्निसा की बनाई हुई दिल्ली में है। स्वयं सम्राट् और उसकी बेग़म के मक़बरे भी बहुत साधारण हैं, उनमें मुग़ल-कला की अधोगति स्पष्ट है। "उनमें

एक प्रकार की बबरता, रुखाई और उजाड़पन-सा निर्दशित होता है।" औरंगजेब के उपरान्त मुग़ल सम्राटों के पास इतना कोष ही नहीं था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाह आलम द्वितीय ने गुजरात में कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन शैली की अनुकृति है। अतएव, अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल-कला को थोड़ा-बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबों के दरबारों में ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयंकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारतें निष्प्राण एवं सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन-मात्र रह गई हैं। इनमें किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नहीं है—केवल शैलीगत विलास का पिष्टपेषण-मात्र है। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डॉ० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिन्दुओं के संरक्षण में भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नहीं की, फिर भी उनके मन्दिरों की कला इतनी निष्प्राण और हीन नहीं है। राजपूताना की इमारतों में इस समय के आम्बेर-स्थित जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्त्व रखते हैं। दीग के भवनों में यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नहीं है परन्तु उनके अवयवों में अलंकरण का सौंदर्य असंदिग्ध है। इस समय मुसलमानों के प्रभाववश हिन्दू राजा भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनाने लग गए थे। इस समय में बनी हुई राजा संग्रामसिंह, सूरजमल और छत्रसाल एवं उनकी रानी की छतरियाँ उल्लेख-योग्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में सिखों ने कुछ सुन्दर इमारतें बनवाईं—इनमें सबसे सुन्दर अमृतसर का मन्दिर है। परन्तु उसका महत्त्व जितना प्रदर्शन के कारण है उतना कला की दृष्टि से नहीं। उस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है, सिखों के दृढ़ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरान्त लगभग दो शताब्दियों तक स्थापत्य का इतिहास प्राय: अनुकृत और निर्जीव कला-कृतियों का अनुलेखन-मात्र है। उसकी एक ही विशेषता है—निर्जीव तथा मौलिक-वैशिष्ट्य-हीन पिष्टपेषण, जिसमें कहीं-कहीं विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्र-कला:—स्थापत्य की भाँति मुग़ल चित्र-कला भी फ़ारसी और भारतीय कलाओं के संयोग से निर्मित है। उसमें फ़ारसी चित्र-कला की कड़ी रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवों की अलंकृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रंगों की चटक का सुचारु सम्मिश्रण है। "चीनी चित्र-कला की विशेषता रही है रेखा—फ़ारसी की रेखा और रंग, और भारतीय कला में रंगों का ही आधिपत्य रहा है।"

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मुग़ल शैली में फ़ारसीपन की न्यूनता और भारतीयता की अधिकता होती गई। जहाँगीर का युग मुग़ल चित्र-कला का स्वर्ण युग है।

उसमें आकर वह पूर्णतः भारतीय हो गई—विदेशी तत्त्व भारतीय तत्त्वों में घुल-मिलकर एक हो गए। परिणाम-स्वरूप मुग़ल चित्र-कला में स्वाभाविकता, गति और सजीवता का समावेश हो गया। वह सम्राट् के अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन भी बन गई। वास्तव में इस सम्राट् के रंगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम चित्र ही था। पर्सी ब्राउन के शब्दों में मुग़ल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। शाहजहाँ को स्थापत्य और मणि-माणिक से अधिक प्रेम था, चित्र-कला में उसको विशेष रुचि नहीं थी। फलतः उसकी समकालीन शैली में मौलिक प्राणवत्ता और हार्दिकता की कमी है। यद्यपि उसमें हस्त-कौशल और नक्काशी अब भी पूर्ववत् बनी हुई है, परन्तु उसकी रचना या सर्जना में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं पाया जाता। हाँ, अलंकरण की प्रवृत्ति कुछ और भी बढ़ गई है—स्वर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग किया गया है, सभी चित्रों में सुन्दर चित्र-विचित्र फूल-पत्ते, पक्षी आदि से कढा हुआ हाशिया दिया गया है। कुल मिलाकर इस समय की चित्रकारी में एक प्रकार की अतिशय परिपक्वता का भान होता है, जो अवनति की सूचना देती है।

जहाँगीर ने व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करके चित्र-कला में जो जीवन की चेतना उत्पन्न कर दी थी, वह शाहजहाँ के दरबार के गंभीर शिष्टाचार में विलुप्त हो गई। शाहजहाँ राजसी शिष्टाचार की मर्यादाओं में विश्वास करता था—अतएव चित्रकारों को दरबार के आंतरिक जीवन में प्रविष्ट होने की आज्ञा न थी। उनका प्रिय विषय दरबार का ऐश्वर्य ही था। विभूतिमान अमीरों की सभाओं, रत्न-जटित परदों, ज़री के आतपत्रों और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों आदि के अंकन में ही वे अपनी सारी कारीगरी ख़र्च कर देते थे। चित्रों में अलंकरण का इतना प्राचुर्य है—रंगों का इतना सूक्ष्म प्रयोग है कि लोगों को प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि रंगों के स्थान पर इन चित्रों में मणियों के टुकड़े ही जड़ दिए गए हैं। शाहजहाँ की प्रिय अलंकरण-कला मणिकुट्टिम का इन पर स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त शबीह अर्थात् व्यक्ति-चित्रों का भी उस युग में विशेष मान था। इन चित्रों में ज्यामिति के रचना-प्रकारों तथा आलेखन की सूक्ष्मता और जकड़बन्दी है। ये चित्र प्रायः व्यक्तियों की स्थिर मुद्राओं के हैं। इनकी रेखाएँ और रंग मिश्रण बड़े बारीक हैं; इनमें एक प्रकार से मूर्ति-कला की ही विशषता मिलती है। परन्तु इनमें जीवन की उष्णता का अभाव है और भाव-व्यञ्जना क्षीण है। इसकी मुख-मुद्राओं में आन्तरिक स्फूर्ति और अभिव्यक्ति की सजीवता नहीं है और अन्तर के चित्र न होने के कारण व्यक्तित्व अथवा चरित्र के अध्ययन में ये अधिक सहायक नहीं हो पाते। मुग़ल-शासन के पूर्वार्ध में व्यक्ति-चित्र केवल सम्राट्, उसके परिवार और दरबार के अमीरों के ही तैयार किये जाते थे। परन्तु साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण होने के पश्चात् राजाश्रय दुर्लभ होने लगा और उधर जनता में इन

चित्रों की माँग बढ़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी में इनका व्यवसाय होने लगा और चित्रों के स्वतन्त्र अंकन के स्थान पर स्टैन्सिल की सहायता से उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार की जाने लगीं। यह कला के ह्रास की चरम सीमा थी। उससे वैशिष्ट्य की हानि हुई, जो इस पतन-काल का प्रमुख दोष है। यही बात पशु-पक्षियों के चित्रों में है। मनोहर, मंसूर आदि कलाकारों द्वारा अंकित पशु-पक्षी भी मुग़लों के उपवन-उद्यानों की शृङ्गार-शोभा के साधन-मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे जान-बूझकर चित्र खिंचवाने के लिए तैयार होकर खड़े हुए हैं। मुक्त आकाश में पंख खोलकर उडते हुए अथवा उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियों के चित्र अप्राप्य हैं। संक्षेप में, श्री रायकृष्णदास के शब्दों में—"अब चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी, तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्त-मुद्राओं में बडी सफाई और क़लम में कहीं कमजोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब क़ायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।"[१]

औरंगजेब का राजत्व-काल अन्य कलाओं की भाँति चित्र-कला के भी अधःपतन का काल है, उसने अपने सामने बीजापुर के असर महल और अकबर के मकबरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था। फिर भी व्यक्ति-चित्रों की अपेक्षा उसको भी रही। स्वयं औरंगजेब के ही अनेक चित्र वर्तमान हैं, जो उसकी सम्मति के बिना नहीं खिंचे होंगे। इसके अतिरिक्त वह अपने नज़रबन्द कुटुम्बियों के स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति-चित्रों का अंकन कराता था जिससे उनको दिये हुए पोस्त के प्याले का प्रभाव उसे नियमित रूप से मालूम होता रहे। औरंगजेब के उपरान्त रहा-सहा मुग़ल वैभव भी नष्ट हो गया। उसके उत्तराधिकारियों का नैतिक और भौतिक ह्रास तत्कालीन चित्रों में व्यक्त है। दिल्ली का कोष अब कलाकारों को अपने आस-पास केन्द्रित रखने में असमर्थ था। अतएव वे अवध, मुर्शिदाबाद, और हैदराबाद के नवाब के आश्रय मे पहुँच गए और इस प्रकार स्थानीय प्रभावों के अनुसार मुग़ल शैली की दिल्ली की कलम, लखनऊ की कलम आदि कई शाखाएँ हो गईं। इस समय के चित्रों में कारीगरी महीनकारी और सजावट के होते हुए भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उसमे बस शृंगारिक विलासिता की ही प्रधानता है। अंतःपुर के रास-रंग से सम्बन्ध रखने वाले शृङ्गारिक चित्र सबसे ज्यादा इसी युग में अङ्कित किये गए। लेकिन इस समय चित्र-कला इन दरबारों से बाहर उन्मुक्त वातावरण में भी काफी फल-फूल रही थी। मुग़ल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अब भी लोक-

१ भारत की चित्रकला

जीवन से प्रेरणा पाकर जीवित थी। यह सर्वथा हिन्दू शैली थी। इसका सम्बन्ध मलत: अजंता की कला से ही था। मुग़ल शैली सर्वथा भौतिक और राजसी थी, राजस्थानी शैली का आधार आध्यात्मिक था और उसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क था। उसकी सृष्टि जनता ने ही अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति, आनन्द-विनोद के निमित्त की थी; परन्तु बाद में मुग़ल-शैली से आदान-प्रदान होने पर इसमें राजसी तत्त्वों का समावेश भी हो गया और जयपुर की कलम में जयपुर की दरबारी संस्कृति की ही भाँति काफी फ़ारसीपन आ गया। राजस्थानी चित्र-कला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओं की मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव मे कलाओं की मूल आत्मा एक ही है अभिव्यक्ति-मात्र का अन्तर है। गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि। हमारे शास्त्रों में रसों और रोगों के देवता और वर्ण आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रों में कुछ तो उसके सहारे और कुछ अनुकूल ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रंग में चित्रित किया गया है। रागमाला के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य प्रिय विषय है—कृष्ण-लीला, नायिका-भेद और बारहमासा। कृष्ण चरित–विशेषकर रासलीला का जनता में उस समय काफी प्रचार था, परन्तु जनता की इस मनोवृत्ति में धार्मिकता नहीं थी, श्रृङ्गारिकता ही थी। राधा-कृष्ण लौकिक प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका के प्रतीक-मात्र थे। बुन्देलखंड में पहले केशव के छन्दों को चित्रबद्ध किया गया, फिर बाद को दतिया राज्य में राजस्थानी शैली की शाखा बुन्देलखण्डी शैली मे देव के 'अष्टयाम', बिहारी की 'सतसई' और मतिराम के 'रसराज' की चित्र-व्यञ्जना हुई। इनका मुख्य रस श्रृङ्गार ही है। शैली में आलंकारिकता की प्रधानता है और आँखों के अंकन में अतिशयोक्ति का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इन चित्रों में भावाभिव्यक्ति शिथिल है, पात्रों की मुख-मुद्राएँ भाव-शून्य हैं, परन्तु स्त्री-चित्रों में आँखें रसीली हैं। जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है ये चित्र हिन्दी-साहित्य के अध्येता के लिए एक विशेष महत्त्व रखते हैं। इनकी और हिन्दी के रीति-साहित्य की आत्मा एक ही है।

राजस्थानी शैली की ही समवर्ती एक दूसरी शैली भी इस युग में वर्तमान थी—काँगड़ा शैली। विदेशी कला-मर्मज्ञों ने इन दोनों को राजपूत शैली की दो शाखाएँ माना है, परन्तु कतिपय आधुनिक विशेषज्ञ इस वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं। काँगड़ा शैली मूलत: भावात्मक शैली है। इसमें यथार्थता को भाव के आश्रित रखा गया है। अतएव इसमें उन्मुक्तता और हार्दिकता पूर्वोक्त दोनों शैलियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस शैली का झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। इन चित्रों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इनमें प्राय: सभी रसों और भावों की अभिव्यञ्जना मिलती है—"देवताओं का ध्यान, रामा-

यण, महाभारत, भागवत, दुर्गा सप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा, लोक-कथा, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अन्य साधारण कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो।"[1]

स्त्री-सौंदर्य के चारु अंकन में ये कलाकार अपना जोड़ नहीं रखते। मीनाक्ष-चित्रण का तो एक नवीन आदर्श ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। रात्रि के रमणीय वातावरण में अथवा मेघाच्छन्न आकाश की छाया में प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार, अथवा थके हुए पथिकों की विनोद-वार्ता तथा जंगल के दृश्य अद्भुत हैं। इनमें छाया-प्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है वैसा मुगल चित्रों में दुर्लभ है। आलोचकों ने इस शैली के विकास को भारतीय चित्र-कला का परमोत्कर्ष मानते हुए, इसकी मौलिकता, अभिव्यंजना और सूक्ष्म कारीगरी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

इस प्रकार रीति युग में चित्र-कला की दो प्रमुख धाराएँ थीं। एक राजसी थी जो जन-जीवन से स्वाभाविक पोषण न पाकर केवल राज्याश्रय पर अवलम्बित थी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण यह शैली ह्रासोन्मुख थी। दूसरी जन-प्रिय थी, जो तत्कालीन जन-समूह की ही भाँति अब भी अपनी चेतना बनाये हुए थी, इसमें जीवन की ताज़गी थी। इस युग के काव्य की रीतिबद्ध और रीतिमुक्त श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त दोनों धाराओं के ही समानान्तर बढ़ रही थीं।

संगीत :—रीति युग में संगीत-कला की स्थिति किसी प्रकार भी संतोषजनक नहीं कही जा सकती। कला के अन्य रूपों की भाँति यहाँ भी मौलिकता का सर्वथा अभाव मिलता है। शाहजहाँ तक तो फिर भी कुशल रही—स्वयं शाहजहाँ को संगीत का परिष्कृत ज्ञान था। उसके समय में तानसेन के वंशज लालखाँ और हिन्दू कलावन्त जगन्नाथ ने तानसेन आदि के संगीत में सूक्ष्मताओं की सृष्टि करते हुए अलंकरण की श्री-वृद्धि की। औरंगजेब का युग संगीत के चरम अपकर्ष के लिए प्रसिद्ध है। बेचारा संगीत भी औरंगजेबी जुल्म का शिकार हुआ। औरंगजेब ने दिल्ली-दरबार से संगीत का सर्वथा बहिष्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसका पूर्णतया विकेन्द्रीकरण हो गया। कलावंत दिल्ली से निराश होकर राजाओं और नवाबों की शरण में जाने लगे। इस समय केवल एक ही संगीताचार्य का नाम उल्लेखनीय है—वह है भागदत्त, जो राणा अनूपसिंह के आश्रय में रहता था। उसने समस्त रागों को बीस ठाटों में विभक्त करते हुए "कनकाङ्गी" को शुद्ध मात्रा माना है। औरंगजेब के उपरान्त मुहम्मद शाह रँगीले ने एक बार फिर संगीत की मृतक आत्मा में प्राण फूँकने का प्रयत्न किया, और दिल्ली

१. 'रायकृष्णदास—'भारत की चित्र-कला'

का श्री-हत दरबार अदारंग और सदारंग के ख़यालों से गूँज उठा। इसी समय शोरी मियाँ ने टप्पा-गायन प्रचलित किया "जिसमें गले से दानेदार तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।" सर सौरेन्द्र मोहन टागोर का कथन है कि इन दो प्रसिद्ध गायकों के अतिरिक्त मुहम्मदशाह के समय में हिन्दू और फारसी शैलियों के सम्मिश्रण से और भी कतिपय मधुर संगीत-शैलियों और ध्वनियों की सृष्टि हुई, जिनमें से अधिकांश श्रृङ्गारिक हैं। इसी शताब्दी में श्रीनिवास ने 'रागतत्त्व-विबोध' नामक एक ग्रंथ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत में मध्यकालीन संगीत के सबसे अन्तिम ग्रंथकार हैं। दक्षिण में मराठा राजा तुलजेन्द्र भोंसले (सं० १८१०-१८४४) ने इस कला की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और 'संगीत-सारामृतम्' और 'राग-लक्षणम्' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। उसके बाद विष्णु शर्मा ने 'अभिनव-रागमंजरी' ग्रन्थ में तत्कालीन हिंदुस्तानी संगीत का विवेचन किया।

उत्तर भारत में संगीत को आश्रय देने वाले अब राजा, रईस और नवाब ही रह गए थे, जो उसको विलास का एक उपकरण मानते थे। संवत १८७० के लगभग पटना के एक रईस मुहम्मद रज़ा ने 'नग़माते-आसफ़ी' नामक संगीत की पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने बिलावल को शुद्ध ठाठ मानते हुए एक नये ढंग से रागों का वर्गीकरण किया, और स्पष्टतया 'राग-रागिनी पुत्र' आधार को असंगत माना। इसके आस-पास ही जयपुर के राजा प्रतापसिंह ने हिन्दुस्तानी संगीत पर प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपने राज्य में एक बृहत् संगीत-समारोह किया, जिसके परिणामस्वरूप देश के प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का संग्रह करते हुए 'संगीत-सार' ग्रन्थ का सम्पादन हुआ। यह ग्रन्थ-संकलन अवश्य अच्छा है, परन्तु विषय-विवेचन के विचार से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे कहीं अधिक महत्त्व है 'राग-कल्पद्रुम' का, जिसको कि संवत्सर १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास ने चार खण्डों में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ को तत्कालीन गेय पदों का विश्वकोष समझना चाहिए।

अवध की नवाबी भी इस समय विलास में ग़र्क़ थी। अवध के अन्तिम अधिपति वाजिदअली शाह को कला-विकास के सभी उपकरणों से प्रेम था। संगीत उनकी रसिक-मण्डली का प्रधान अलंकरण था। वे स्वयं अच्छे संगीतकार थे। संगीत की रसीली शैली ठुमरी उन्हीं का आविष्कार है, जो कि डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में भारतीय संगीत-प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण रूप है। इस प्रकार अन्य कलाओं की भाँति संगीत के क्षेत्र में भी विराट् और गम्भीर तत्त्व का अभाव, तथा एक प्रकार की स्त्रैण श्रृङ्गारिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीति युग में संगीत की प्रवृत्ति भी मौलिक उद्भावना की ओर न होकर अलंकरण और रसीलेपन की ओर ही थी।

: २ :

रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार

रीति-शास्त्र का आरम्भः—भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है : सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानस-जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त करके अपने-अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ लिखे—"तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत, औक्तिक-मुक्तिगर्भः रीति-निर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दि-केश्वरः दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः इति।"

विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढ़े गए मालूम पडते हैं। परन्तु कुछ नामों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। जैसे 'काम सूत्र' में 'औपनिषदिकं के व्या-ख्याता कुचमार और 'साम्प्रयोगिक' के व्याख्याता सुवणनाभ के नाम आते हैं। 'रूपक' या 'नाट्य-शास्त्र' पर भरत का ग्रन्थ तो किसी-न-किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से काम-शास्त्र, गीत-नृत्य और तंत्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु रस पर उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीति-शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहा-यता नहीं करता।

वेद-वेदांग:—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोष वेद है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वाणी के रस से तो स्पष्टतः अभिज्ञ थे ही इसमें कोई सन्देह नहीं, इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंद-रचना आदि के सिद्धांतों का सम्यक् विवेचन और 'उपमा' शब्द का प्रयोग भी वेदों में मिलता है। परन्तु साहित्य-शास्त्र का निश्चित आरम्भ वेदों में ढूँढना क्लिष्ट कल्पना-मात्र होगी। वेदों के अतिरिक्त वेदांग, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय में मौन हैं।

व्याकरण-शास्त्र:—भारत का व्याकरण-शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव में भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रन्थ है 'निरुक्त' और 'निघण्टु'। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदों का विवरण दिया है : जैसे भूतोपमा, जिसमें उपमित उपमान बन जाता है; रूपोपमा, जिसमें उपमित और उपमान में रूप-साम्य होता है; सिद्धोपमा, जिसमें उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है; रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमें साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होंने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातञ्जलि का 'महाभाष्य' भी इन रूपों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलंकरण के जो सिद्धान्त काव्य-शास्त्र में स्थिर किये गए, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनन्दवर्धन-जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धान्त व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धान्त से ही ग्रहण किया गया है।

दर्शन:—व्याकरण के उपरान्त काव्य-शास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना का संकेत न्याय-शास्त्र के शब्द-विवेचन में मिलता है। नैयायिकों के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों म विभक्त किया है। शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध में 'न्याय' और 'मीमांसा' दोड़ों मे शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव मे एक प्रकार से 'न्याय' और 'मीमांसा' से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए। इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद 'सांख्य' के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है—जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ "उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है।" इससे भी अधिक स्पष्ट है वेदान्तियों के मोक्ष-सिद्धान्त का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से

प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है, जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु यह वास्तव में संकेत अथवा अनुमान-मात्र है, इनसे काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

काव्य-शास्त्र का वास्तविक आरम्भः—निदान काव्य-शास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूल ग्रन्थों की रचना के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डॉ० सुशीलकुमार डे, काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिला-लेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ और कालिदास का अलंकृत काव्य आदि सभी इसी ओर संकेत करते हैं। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दि के आस-पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन् के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन का और दण्डी ने कश्यप आदि का, परन्तु अभी तक इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरान्त काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों ही समृद्ध होते गए। काव्य-शास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस-सम्प्रदाय ही आता है।

रस-सम्प्रदाय

रस शब्द का अर्थ और इतिहास—रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। लोक में यह शब्द मुख्यतः चार विभिन्न रूपों में प्रचलित है—१ पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; २ आयुर्वेद का रस, ३ साहित्य का रस, और ४ इसी से मिलता-जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य-रस में रस से तात्पर्य है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़कर निकाले हुए द्रव का, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनों अंग (अ) निचोड़ और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। आयुर्वेद में रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य में रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द। व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—'रस्यते इति रसः', जो आस्वादित किया जाय वह रस है—'रस आस्वादनस्नेहयोः।' व्याकरण में इसकी व्युत्पत्ति और भी है 'सरते इति रसः' अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस में द्रवत्व और बहने का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस में दो विशेषताएँ मिलती हैं—द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में स्वाद–आनन्द का गुण तो स्पष्टतः सर्व-सामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का आशय भी प्रायः किसी-न-किसी रूप में निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है--'दधानः कलशे रसम्'[1]। यहाँ रस से तात्पर्य सोम रस का है। अन्य वनस्पतियों के द्रव, दुग्ध और जल के अर्थ में भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी रस शब्द वेदों में आता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में निश्चित रूप से रस का प्रयोग मधु के अर्थ में हुआ है—'रसो वै मधु'। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'रसो वै सः,' 'रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति'[2] में रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहाँ पर प्राण तत्त्व (सार) और स्वाद दोनों अर्थों का सम्मिश्रण हो जाता है--परमात्मा रस है और रस अर्थात् चिदानन्द रूप है-- 'रस सारः चिदानन्दप्रकाशः', जिसको प्राप्त करके आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋग्, यजु और साम की ऋचाओं की सृष्टि हुई :

ऋचामेव तद्रसेन,
यजुषामेव तद्रसेन,
साम्नामेव तद्रसेन ।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणत्व सिद्ध करने में श्रुति के इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव में जैसा कि डॉ० संकरन का मत है, यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप स्थिर करने में इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ में रस का प्रयोग किया हो— "जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार करके, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करके काव्यानन्द का अनुभव करता है।" परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था, यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदों में और उनके आधार पर कालान्तर में दर्शनों में रस रसना की ऐन्द्रिक अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है :

येन रूपं रसं ····· एतेनैव विजानाति ।[4]
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ।[5]

---

१. ऋग्वेद ९,६३ १३
२. तैत्तिरीय उपनिषद् ११,७,१
३. छान्दोग्य उपनिषद् ४, १७
४. कठोपनिषद् ४,३
५. सर्वोपनिषद

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पर्श त्वचा का, रूप नेत्र का, रस जिह्वा का, और गन्ध नासिका का। 'वैशेषिक दर्शन' में २४ गुणों के अन्तर्गत रस के इस रूप का विवेचन मिलता है। 'न्याय' का भी मत है :

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ।
सहकारी रसज्ञायाः नित्यत्वादि च पूर्ववत् ।

'रामायण' और 'महाभारत' में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा विकास नहीं हुआ। 'रामायण' में रस का प्रयोग जीवन, रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है--केवल विष के अर्थ में उसका प्रयोग नया है, पर वह हमारे लिए अप्रासंगिक है 'महाभारत' में भी वह जल, सुरा, पेय, गन्ध आदि का पर्याय है 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गीता)—केवल दो एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं, जैसे काम और स्नेह के अर्थ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ऋग्वेद' से लेकर 'महाभारत' तक रस के लगभग अन्य सभी मुख्य-मुख्य अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी परन्तु साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी आविर्भूत नहीं हो पाया था।[1]

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः;
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ।

(इति विश्वः)

में से 'शृङ्गारादौ' का अन्तर्भाव अभी रस में नहीं हो पाया था--परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसमें संदेह नहीं। वैसे तो 'वाल्मीकि रामायण' के साधारणतः प्रचलित संस्करणों में बाल-काण्ड के आदि में ही नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है :

पाठ्ये गेये च मधुरं च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्;
जातिभिः सप्तभिर्युक्तम्, तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृंगार-करुण हास्य-रौद्र-भयानकैः
वीरादिभीर संयुक्तं काव्यमेतद् गायताम् ॥ ९ ॥

परन्तु बाल-काण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है। एकाध अत्यन्त विश्वासी विद्वान् को छोड़ कर प्रायः सभी इस विषय में एकमत हैं।

इसके उपरांत भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' है, जिसमें हमें रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है। भरत में रस का इतना सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है, और भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आर्या तथा अनुष्टुप् छंद देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनसे पूर्व ही उसका

---

१. प्रसिद्ध कोषकार ब्लूमफील्ड एवं मौलियर विलियम्स इसके साक्षी हैं।

शास्त्रीय और पारिभाषिक रूप, और शायद संख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नहीं। उन्होंने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नहीं किया, वरन् (नाटक के) प्रेक्षक की भाव-प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास

यों तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भरत ने भी प्रधानता तो वास्तव में रूपक को ही दी है। रस को तो उन्होंने, जैसा कि मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ, वाचिक अभिनय का अंग मानकर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विषय में भरत का ही सिद्धान्त सर्वमान्य है, अतएव उनको आद्याचार्य मानना अनिवार्य ही है। भरत के उपरांत रस-सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यों ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलंकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस-सिद्धांत का पहला विरोधी आचार्य था भामह, जिसने अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए रस का रसवद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारों में अंतर्भाव कर दिया। भामह के अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट; जो सभी अलंकारवादी थे। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य-रसिक दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलंकार को छोड़कर रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव में वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नहीं था, रस को उसने कांतिगुण का मूल तत्त्व मानते हुए[1] उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। उद्भट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही, परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप में किया। उसने संहिता नामक अलंकार की उद्भावना की, जिसमें भाव और रस की शांति का भी अंतर्भाव हो सकता था। रस-वद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारों का भी विवेचन उसका भामह और दण्डी से पृथक् है। इसके अतिरिक्त कुछ पंडितों का मत है कि उद्भट ने ही शांत रस की उदभावना की थी। उद्भट पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव था। उद्भट के उपरान्त रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव में अलंकार, रीति तथा ध्वनि-रस-सम्प्रदायों के संगम-स्थल पर खड़ा हुआ है। उसने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते हुए विरोधी सिद्धांतों को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने असंदिग्ध शब्दों

1. दीप्तिरसत्वं कांतिः।

में यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी :

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंस:
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥[1]

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण इन चार भागों में विभक्त किया ।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा । काव्य-सिद्धान्त में इनकी प्रभुता वास्तव में इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस-सिद्ध कवियों को इनके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने पड़े । कालिदास और भवभूति दोनों ने अपने समकालीन आलोचकों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दों मे रस की प्रतिष्ठा की है । कालिदास ने स्पष्टत: स्वीकार किया कि :

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥[2]

भवभूति तो वास्तव मे रसावतार थे—उन्होंने काव्य में चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस में अन्य सभी रसों का अंतर्भाव किया । परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धान्तों के आग सिर झुका दिया था । उदाहरण के लिए बाण-जैसे रसज्ञ कवि को भी आलंकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड़ करना पड़ा था ।

इन विषमताओं का समाधान अन्त मे आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना द्वारा किया । ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलंकारवादियों की बाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया । रस-सिद्धान्त के अनुसार तो जहाँ विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति न हो वहाँ काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नहीं है । परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि ये तीन विभाग कर दिए । उन्होने यद्यपि मुख्य रस-ध्वनि को ही माना तथापि वस्तु और अलंकार को भी काव्य में उचित स्थान दिया । इस प्रकार ध्वनि–सिद्धान्त को रस-सिद्धांत का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है । 'ध्वन्यालोक' के उपरान्त अभि-

---

१. रुद्रट—'काव्यालकार' १५, २१

२. मालविकाग्निमित्र अंक १, ४

नव गुप्त के 'लोचन' की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रतिभा के बल पर रस-स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप से निषेध करते हुए व्यञ्जना की मान्यता स्थापित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन में व्यञ्जना किस प्रकार सभी व्यवधानों का नाश करती है तथा कटु भावों को भी मधुर रस की स्थिति तक पहुँचा देती है। अभिनव गुप्त साधुवृत्ति के दार्शनिक विद्वान् थे, अतएव स्वभावतः शान्त रस के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उन्होंने शान्त रस का रसत्व ही सिद्ध नहीं किया, वरन् अन्य सभी रसों का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोषित किया। वास्तव में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में अभिनव गुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय उन्हीं को है।

अभिनव गुप्त के सिद्धान्तों का महिम भट्ट ने विरोध किया। उन्होंने व्यञ्जना की स्थिति का निषेध किया और श्री शंकुक के आधार पर रस को अनुमित माना। परन्तु उनका मत लोकप्रिय नहीं हुआ। रस का सबसे प्रबल पृष्ठपोषण राजा भोज ने किया। उन्होंने केवल एक रस—शृङ्गार—की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसों का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नहीं था। उनका सिद्धान्त था कि अलकार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहंवृत्ति, यह अभिमान ही शृङ्गार है, यही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस में कभी परिणत नहीं हो सकते, व तो केवल रस की श्री-वृद्धि करते हैं, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की द्युति-वृद्धि करती हैं। भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' में मौलिकता तो अधिक नहीं है, परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के बल पर वह संस्कृत-रस-शास्त्र का विश्व-कोष कहा जा सकता है।

भोजराज के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय में विशेषतया उल्लेखनीय है। मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तों का स्वच्छ रीति से समाहार करते हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस-परम्परा में विश्वनाथ का योग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है, उन्होंने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्त्व दिया, ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होंने ध्वनि को रस के अन्तर्गत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस को महत्त्व देते हुए भी उसे काव्य के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं माना था; उसकी अनुपस्थिति में भी मध्यम या कम-से-कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्यों में भी काव्यत्व रस के कारण ही माना। उनमें भी रस का क्षीण-से-क्षीण आभास अवश्य होना चाहिए अन्यथा वे काव्य नहीं माने जा सकते। इसी सिद्धांत

के अनुसार उन्होंने चित्र को काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया। परन्तु रस में उन्होंने चित्र की विद्रुति की अपेक्षा चित्र के विस्तार को अधिक महत्त्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्त्व माना, इसीलिए रसों में अद्भुत को उन्होंने प्रधानता दी। विश्वनाथ के इस रस-सिद्धान्त का उग्र विरोध अठारहवीं शताब्दी में पंडितराज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को संकीर्ण कहकर उन्होंने काव्य को 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धि-तत्वों को भी काव्य में उचित स्थान दिया। पण्डितराज संस्कृत के दिग्गज विद्वानों में से थ। उनके उपरान्त संस्कृत- [illegible] की परम्परा में कोई उल्लेखनीय नाम नहीं मिलता। बस, फिर रस-परम्परा भी, जो उनके पूर्व से हीनायिका-भेद की संकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीति-कवियों के हाथ में आ गई।

रस की परिभाषा:—रस की व्याख्या करने वाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है:—'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'; अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है रति, करुणा आदि भावों के कारण। ये दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन; जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं, जैसे—नायक-नायिका आदि। और २. उद्दीपन; जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते है, उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभति के अनुकर्म हैं अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव हैं, जसे—भ्रक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं, जो क्षण-क्षण में उठ-गिरकर स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार विभाव, अनभाव और व्यभिचारी भावों का संयुक्त रूप में साक्षात्कार करके दशक के मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का सचार होता है; यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए—"कुशल नट और नटी दुयन्त और शकुतला के रूप में हमारे सम्मख उपस्थित होते हैं। ये पहले-पहल तपोवन के रमणीय कुञ्जों में मिलते हैं (विभाव)। दोनों एक दूसरे के आल्हादकर सौंदर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित उत्सुक नेत्रों से एक दूसरे की ओर देखते हैं—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टि-पात करती है (अनुभाव)। वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते है (व्यभिचारी भाव)। सौभाग्य से शकुन्तला सखी की सहायता से—पत्र द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही में दुष्यन्त वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का

संयोग) कविता, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने नाट्य-धर्मी कहा है, मंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देश-काल का अन्तर भूलकर सामने उपस्थित घटना में उन्मत्त हो जाता है, और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना में विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।"[1] और स्पष्ट शब्दों में, आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावों से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है:–

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावाः सचेतसाम्॥

आगे चलकर रसमग्न करने की क्षमता रूपक और काव्य तक ही सीमित नहीं रही—स्फुट रचनाओं में भी मान ली गई—और फिर इसकी परिधि गीत, नृत्य तथा चित्र आदि कलाओं तक विस्तृत हो गई। संगीत, नृत्य आदि के द्वारा भी रस के प्रदर्शन और अभिव्यक्ति आदि की चर्चा परवर्ती शास्त्रों में मिलती है। रूपक या काव्य ही नहीं स्फुट छन्द, यहाँ तक कि गीत नृत्य और चित्र भी सहृदय को रस-विभोर कर सकते हैं। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों के फेर में न पड़कर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रस एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु यह जागृत किसमें होती है और किस प्रकार की होती है अर्थात् काव्य से उद्बुद्ध इस आनन्द-मयी चेतना में और अन्य निमित्तों से उद्बुद्ध आनन्दमयी चेतना में क्या अन्तर है, ये प्रश्न उठते हैं। दूसरे शब्दों में रस की मूल स्थिति किसमें है ? और रस का स्वरूप क्या है ?

रस की स्थिति

रस की स्थिति के विषय में संस्कृत के आचार्यों में बहुत मतभेद रहता है। भरत ने रस की व्याख्या में एक सूत्र देकर छोड़ दिया है–'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'; अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति से उनका क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होंने सम्यक् रूप से नहीं किया। इस प्रसंग में उन्होंने आगे भी कुछ वाक्य दिये हैं, जैसे 'यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।' अर्थात् जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षट्रस बनते हैं इसी प्रकार नाना भावों से घिरे

[1] संकरन के एक उद्धरण का अनुवाद। देखिये Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit 1929, पृष्ठ १५

हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते है : 'प्रपाणक-रसन्यायात् चर्व्यमाणो रसो मतः।' परन्तु इससे भी समस्या कुछ सुलझ नहीं सकी; इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की। यहाँ स्पष्ट ही साहित्य का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठता है—रस का मूल भोक्ता कौन है? कवि या नाटककार, अथवा श्रोता या दर्शक, या फिर काव्य या नाटक के पात्र अथवा इन काव्यगत पात्रों के मूल रूप ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्त्री-पुरुष और या फिर नट-नटी? इनमें श्रोता या दर्शक का तो किसी-न-किसी रूप में इसका भोक्ता होना सर्वथा स्पष्ट है और सभी ने उसको स्वीकार भी किया है। किस रूप में स्वीकार किया है यह दूसरी बात रही। वास्तव में यह बात इतनी प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध है कि इसका निषेध धोखे से भी नहीं किया जा सकता। नाटक या काव्य का अस्तित्व क्यों है? देखने या पढ़ने के लिए। कोई उसे क्यों देखे, पढ़े या सुने? आनन्द के लिए। यह भी कोई यह प्रश्न उठा बैठे कि किसके आनन्द के लिए, तो आप प्रश्नकर्ता के दुराग्रह अथवा उसकी 'मूर्खता' पर कुछ झुँझलाकर यही उत्तर दगे कि स्पष्टतः अपने आनन्द के लिए। जो कोई कुछ भी करता है, अपने आनन्द के लिए ही करता है। दूसरों के आनन्द के लिए भी वह जो-कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसके अपने आनन्द में ही निहित रहती है।

भरत-सूत्र के सबसे पहले जिस व्याख्याकार का मत अभी तक प्राप्त हो सका है, वह लोल्लट है। वह सामाजिक के आनन्द को तो अस्वीकृत नहीं करता, परन्तु उसकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते हैं—सामाजिक के हृदय में तो नट-नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक, सामाजिक का है प्रतीति-जन्य, अपरागत (Second hand) और इस प्रतीति के माध्यम हैं नट-नटी। सामाजिक नट-नटी में नायक-नायिका का आरोप करके (उनके नाट्य-कौशल के कारण उन्हीं को नायक-नायिका समझता हुआ) नाटक का आनन्द लेता है। यहाँ दो-तीन प्रश्न उठते हैं १. नायक-नायिका (दुष्यंत-शकुन्तला) से क्या आशय है? मूल ऐतिहासिक दुष्यंत और शकुन्तला का या नाटक में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला का? २. नट-नटी का इनसे क्या संबंध है? ३. दूसरे के रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है? भट्ट लोल्लट अपना आशय शायद इस प्रकार स्पष्ट करते : एक दिन अचानक ही दुष्यंत और शकुन्तला तपोवन की रम्य कुंजस्थली में मिलते हैं और एक दूसरे के अपूर्व सौंदर्य को देखकर मुग्ध-चकित हो जाते हैं। दोनों के हृदय में स्थित वासना-रूप रति जागृत हो जाती है। दुष्यंत शकुन्तला की ओर विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है, शकुन्तला भी चोरी-चोरी सलज्ज दृष्टि उसकी ओर डालती है। ये अनुभाव उनकी जागृत रति को व्यक्त करते हैं। दोनों के मन में अनेक तर्क-वितर्क उठने

लगते हैं, और वे वियोगजन्य ताप में जलने लगते हैं। इन संचारियों से रति परि-पुष्ट होती है अन्त में दुष्यंत स्वयं ही वहाँ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनों का संयोग होने पर रति-भाव पूर्णतः उद्बुद्ध होकर श्रृङ्गार रस में परिणत हो जाता है और वे उसका आनन्द लेते हैं। अतएव रस का वास्तविक अनुभव करते हैं नायक-नायिका। अब प्रश्न यह उठता है कि इनका नायक-नायिका से लोल्लट का आशय कौन से दुष्यंत-शकुन्तला से है? ऐतिहासिक महाराज दुष्यंत और मेनकात्मजा कण्वपोष्या शकु-न्तला से, जिनका वर्णन हम 'महाभारत' में पढ़ते हैं और जिसे कालिदास ने भी उसी रूप में पढ़ा होगा? अथवा कालिदास द्वारा अंकित दुष्यंत और शकुन्तला से, जो महा-भारत के दुष्यंत-शकुन्तला से निश्चय ही कुछ अंशों में तो भिन्न हैं ही? भट्ट लोल्लट का अभिप्राय निस्संदेह ही ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला से है। या यों कहें कि वह इतिहास के दुष्यंत-शकुन्तला और 'शाकुन्तलम्' के दुष्यंत-शकुन्तला म कोई मूलगत अंतर नहीं मानता। एक तो शायद इसलिए कि नियम के अनुसार नाटक के नायक-नायिका प्रसिद्ध एतिहासिक व्यक्ति ही होते हैं, दूसरे इसलिए भी कि उस समय तक काव्यगत पात्रों में कवि के आत्मांश को स्वीकार करने की क्षमता आलोचक को प्राप्त नहीं हो सकी थी। वैसे भी भारतीय साहित्य-शास्त्र की बाह्यार्थ-निरूपिणी दृष्टि कवि के आत्मांश की अपेक्षा ही करती आई है। थोड़ी गहराई में जाकर देखा जाय तो 'महाभारत' के दुष्यंत-शकुन्तला भी मूल ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला नहीं हैं। खैर, यह एक लम्बा प्रसंग है; जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल यही निर्देश करना है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला में ही मानता है। कवि-अंकित दुष्यंत-शकुन्तला को या तो वह उनसे एकरूप करके देखता है। या फिर, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, नट-नटी की भाँति माध्यम-मात्र मानता है। प्रेक्षक सामने नट-नटी को उनका अभिनय करते हुए देखता है, और उनकी कुशलता एवं सजीवता के कारण उनमें ही दुष्यंत-शकुन्तला का आरोप कर लेता है—अर्थात् उन्हीं को दुष्यंत-शकुन्तला समझ लेता है। रंगमंच पर उनको रस-ग्रहण करते हुए देखकर वह यही समझता है कि वास्तविक दुष्यंत-शकुन्तला रस-ग्रहण कर रहे हैं और उनकी रस-दशा को देखकर स्वयं ही रसानुभव करने लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक रसानुभव कैसे कर सकता है? बाद के व्याख्याकारों ने इसके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप उठाये हैं—१ दूसरे को इस दशा में देखना, विशेषकर यदि रस श्रृंगार है, अनुचित है, अनैतिक है। अनुचित या अनैतिक कर्म करने की शास्त्र कैसे आज्ञा दे सकता है? और उससे आनन्द कैसे सम्भव है? मनो-विज्ञान की दृष्टि से भी तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरे के प्रेम-मिलन का आनन्द

देखकर हमें प्रेम का आनन्द ही प्राप्त हो—ईर्ष्या हो सकती है, लज्जा, विरक्ति और क्रोध तक हो सकता है।

भट्ट लोल्लट को उत्तर देने का अवसर नहीं मिला, वह इन आक्षेपों का क्या उत्तर देता, यह नहीं कहा जा सकता। पर आज का समालोचक बड़ी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनंदित हो सकते हैं आनंद के अतिरिक्त भी जो प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के ही द्वारा होगी और आनंद का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यों न हो। दुष्यंत और शकुन्तला का संयोग-सुख देखकर यदि हमें ईर्ष्या होती है तो यह नहीं समझना चाहिए कि हमारी ईर्ष्या की भावना उनके संयोग-सुख से सर्वथा भिन्न है। यह भी उसी का रूप है, पात्र और परिस्थिति के वैपरीत्य से उसका रूप-मात्र बदल गया है और यह रूप-परिवर्तन तो किसी भी दशा में संभव है।

संक्षप में भट्ट लोल्लट-कृत विवेचन की शक्ति और सीमाएँ इस प्रकार हैं—

शक्ति——१. उसने रसास्वादन के मूल तत्त्व सहानुभूति की ओर सफल संकेत किया है। २. उसने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर सौंदर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त आत्यंतिक रूप से सत्य न होते हुए भी सर्वथा अनर्गल नहीं है। हमारे हृदय में कुछ विषय अन्य विषयों की अपेक्षा रस की उद्बुद्धि अधिक मात्रा में तथा अधिक सरलता से कर सकते हैं, और इसका कारण यह है कि इन विषयों पर हमारे अपने, हमारी जाति के, हमारे देश के, और आगे बढ़कर संपूर्ण मानवता के परंपरागत संस्कारों के पर्त चढ़े हुए हैं। इसलिए विशेष कठिनाई के बिना हमारी वासना, जो स्वयं संस्कार-रूप है, जागृत की जा सकती है। यह रसानुभूति अपेक्षाकृत कहीं अधिक गहरी भी होती है, क्योंकि इसमें परिस्थिति-विशेष के ही नहीं वरन् युग-युग के, और उधर हमारे एक व्यक्ति के ही नहीं वरन् समग्र जाति के संस्कार एक साथ जग उठते हैं। हिटलर पर स्टालिन की विजय का चित्र देखकर साधारणतः हमारे आज के (राजनीति से प्राप्त) संस्कार ही झंकृत होते हैं, परन्तु रावण पर राम की विजय का वर्णन पढ़कर युग-युग तक प्रसरित संस्कारों का जाल झंकृत हो उठता है। स्पष्टतः यह दूसरी झंकार पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी और सबल होगी। संचारियों से स्थायी भावों को अथवा एक रस से दूसरे को अधिक महत्त्व देने का भी यही कारण है। आलोचना के इस समृद्ध युग में भी हम मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य शुक्ल को इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए पाते हैं। आज का पदार्थवादी दृष्टिकोण भी हीगेल के आदर्शवाद का (अर्थात् ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति का) निषेध करके वस्तु या पदार्थ से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता हुआ बहुत-कुछ इसी वस्तुपरक सिद्धान्त की ओर लौट

आया है। हमारे यहाँ मीमांसकों का दृष्टिकोण यही था और लोल्लट मीमांसक ही तो था। ३. उसने नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया है। वास्तव में नट के लिए भी रसानुभूति अनिवार्य है, उसके बिना सफल अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी कला बिना अनुभूति के सफल कैसे हो सकती है, वह कोई यंत्र-प्रचालित कर्म तो है नहीं। नट का लक्ष्य चाहे धन हो या और भी कुछ, परन्तु अभिनय के समय उसे तन्मय, रस-मग्न होना ही पड़ेगा; नहीं तो अभिनय सफल नहीं हो सकता।

सीमा:—१. वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि द्वारा अंकित उनके प्रतिरूप व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। काव्य में तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है, जो कवि की अपनी अनुभूति के मूर्त रूप-मात्र हैं। अतएव नायक-नायिका में रस की स्थिति मानना वास्तव में कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव में यह नहीं जान सका कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रस का अनुभव करता है। उसके विवेचन की सबसे बड़ी सीमा यही थी, क्योंकि इस प्रकार कल्पित पात्र और कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता।

२. उसने सामाजिक के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया है। भरतसूत्र का दूसरा व्याख्याता हुआ, शंकुक। उसने भट्ट लोल्लट का विरोध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया। अर्थात् उसने प्रतिपादित किया कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानता है। प्रेक्षक उसको (आरोप के द्वारा) प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त नहीं करता, वरन् अनुमान से प्राप्त करता है। उसका आक्षेप है कि दूसरे को रस-दशा में देखकर, पहले तो प्रेक्षक को रस-प्रतीति ही नहीं हो सकती और यदि कुछ उत्तेजना होती भी है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृङ्गार-रसानुभूति सहृदय में संकोच, ईर्ष्या, विरक्ति आदि की भावना भी तो जागृत कर सकती है। परन्तु इस आक्षेप के द्वारा शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करता है, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है। उसका दूसरा आक्षेप यह है कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हमको कैसे हो सकती है? आज का आलोचक उसका भी उत्तर देने में असमर्थ नहीं है। वह कहेगा 'कल्पना के द्वारा'। पहले नाटककार स्वयं सहानुभूति और कल्पना के द्वारा (जिसमें कि ये दोनों गुण असाधारण मात्रा में मिलते हैं) अपने को नायक अथवा नायिका से तद्रूप कर देता है, और फिर उसकी सहायता

से प्रेक्षक भी इन्हीं दो गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। परन्तु शंकुक इस समाधान तक नहीं पहुँच सका और इसका भी कारण यही था कि संस्कृत के आचाय रसास्वादन में कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़कर चले हैं। निदान शंकुक ने रस की प्रतीति न मानकर, 'चित्र-तुरग-न्याय' के आधार पर इसका अनुमान भी सम्भव माना है। शंकुक का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है : भरत ने स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक-नायिका को ही होती है। परन्तु रंगमंच पर नट-नटी इतना सफल अभिनय करते हैं कि प्रेक्षक चित्र-तुरग-न्याय से उन्हीं को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय का आनन्द लेता हुआ मूल भाव का अनुमान करता है। यह अनुमित (स्थायी) भाव ही रस है और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अतएव मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक-नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते हैं प्रेक्षक, और इस अनुमान का माध्यम हैं नट-नटी; जिनका अभिनय-सौंदर्य (अपूर्व वस्तु-सौदर्य) इस अनुमान को सम्भव बनाता है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है, लोक-अनुभव के विरुद्ध है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है मन की नहीं; अनुमान से ज्ञान होता है अनुभूति नहीं। किसी प्रणयी-युग्म को एकांत उपवन-गृह की ओर जाते हुए देखकर हमको अनुमान के द्वारा तो केवल यह ज्ञान ही होता है कि वे प्रणयानुभव ही करेंगे, या कर रहे होंगे। इसके आगे यदि हमें भी वैसी उत्तेजना होती है तो वह इसलिए नहीं होती कि हमने एक उसका अनुमान लगा लिया है, वरन् इसलिए कि हमने एक कदम और आगे बढ़कर कल्पना और सहानुभूति के द्वारा अपने को उस स्थिति में डालकर उनके प्रणयानन्द का मनसा साक्षात्कार कर लिया है। शंकुक ने वास्तव में रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नहीं दिया। भट्ट लोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धान्त द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है। वह यह कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है इस तथ्य का उसने असंदिग्ध शब्दों में निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु-परक-स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढाया।

इस समस्या को भट्ट नायक ने बहुत-कुछ सुलझाया है। लोल्लट, शंकुक और इधर ध्वनिकार के मतों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है कि रस का न तो ज्ञान होता है और न उत्पत्ति, और न अभिव्यक्ति। उसने दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं; एक तो यह कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक

से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए न कि आनन्द या रस की। और शोक-प्राप्ति के लिए कोई क्यों नाटक देखेगा या काव्य पढ़ेगा ? दूसरे, अगर सहृदय के हृदय में ही रस स्थित रहता है और विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है, तो प्रश्न यह उठता है कि एक का भाव अर्थात् नायक का व्यक्तिगत भाव, दूसरे के अर्थात् प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है ? फिर रति, शोक आदि की अभिव्यक्ति सम्भव भी हो सके, परन्तु समुद्र-लंघन-जैसे असाधारण भावों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक में कैसे हो सकती है ? किन्तु यह प्रश्न मौलिक होते हुए भी अकाट्य नहीं है। पहले प्रश्न का उत्तर आज का आलोचक यह देगा कि एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा (कल्पना द्वारा) साक्षात्कार होता है और मानसिक रूप धारण करने में कटु-से-कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु-से-कटु स्मृति में भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवि या नाटककार का अपना सृजन-अनुभव या सहजानुभूति, और स्पष्ट शब्दों में अनुभूति की सफलता का आनन्द भी तो इस शोक को अपने रंग में रँगकर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभावतः आनंदमय होता है। प्रेक्षक या पाठक को कवि के इस सफल (आनंद-मय) भावन की अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनंद-रूप ही होता है चाहे नाटक का विषय सुखात्मक हो या दुःखात्मक। यह समाधान उस समय प्राप्त नहीं हो सका, और इसका कारण भी यही था कि संस्कृत के आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़ ही दिया था।

भट्ट नायक के दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सरल है। पहले तो काव्यगत 'भाव' सामान्यतः असाधारण नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी अनुभाव 'भाव'-संज्ञा को तभी प्राप्त कर सकता है जब कवि को स्वयं उसकी सहजानुभूति हो गई हो। और कवि के लिए जब उसकी अनुभूति सम्भव है तो प्रेक्षक या पाठक के लिए भी सर्वथा सम्भव ही होनी चाहिए; क्योंकि कवि की प्रतिभा कितनी ही लोकोत्तर अथवा असाधारण क्यों न हो, उसके मन की स्थिति तो साधारण ही होती है। और यदि ऐसा नहीं है, यदि कवि अलौकिक रहस्य-द्रष्टा है या विक्षिप्त है, तो न तो वह अपने अनुभव को प्रेषणीय बना सकता है और न पाठक ही उस असाधारण अनुभव की सहजानुभूति कर सकता है। उसकी कृति फिर काव्य की परिधि से बाहर पड़ेगी। इस प्रकार काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक में असम्भव नहीं मानी जा सकती। हनुमान के समुद्र लंघन का उत्साह सर्वथा अलौकिक या अमानवीय, असाधारण या विशिष्ट नहीं है।

साधारण उत्साह से मूलतः वह भिन्न नहीं है। एक शब्द में (जैसा कि बाद में अभिनव-गुप्त ने कहा भी) काव्यगत कोई 'भाव' विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है और हृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

पर भट्ट नायक ने इन शंकाओं का समाधान दूसरे प्रकार से किया। उसने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में मानी, न नट-नटी में। रस की स्थिति उसने सीधी हृदय में मानी। भट्ट नायक के अनुसार काव्य में तीन शक्तियाँ निसर्ग-सिद्ध हैं: (१) अभिधा, (२) भावकत्व, (३) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है, जिसके द्वारा पाठक या प्रेक्षक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है; वह प्रत्येक शब्द-रूप ज्ञान में होता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व, जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शकुन्तला के प्रति रति, दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति भाव नहीं रह जाता, न नट का नटी के प्रति, न प्रेक्षक का अपनी प्रेमिका के प्रति। वह पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रति-भाव ही रह जाता है। इस प्रकार भावकत्व के द्वारा नायक-नायिका, नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व अंतर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप-से-आप रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और प्रेक्षक या पाठक आनन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं भुक्ति होती है।

भट्ट नायक संस्कृत के बड़े मेधावी आलोचकों में से है। उसके विवेचन से रस-शास्त्र अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसने अभिनव से पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य-शास्त्र के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की 'सामान्य' भूमि पर पहुँच जाना—दुष्यन्त को शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यत की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी 'शाकुन्तलम्' के इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार सम्भव होता है? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें

रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[१] इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।"[२] इसका अनवर्ती परिणाम स्वभावतः यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुरान आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"[३]

इसका संकेत विश्वनाथ में मिलता है। परन्तु यह भट्ट नायक और अभिनव का मत नहीं है। उन दोनों ने शब्द-भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनसार आश्रय के साथ तादात्म्य उसको मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति-भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उनका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता—'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो श्रृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।"[४] भट्ट नायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं; क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्लजी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयगा, परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं, साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधर न होकर कटु है (जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपना शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है) तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के

---

१. 'चिंतामणि', साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद।

२. वही

३. वही

४. वही

कारण कटु ही होगा। रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव में यह सब-कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती ?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है ? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है--अपनी (सहृदय की), राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूंकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देते है। साधारणीकरण की सभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ) १. आश्रय की, और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है--और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं ? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी संभावना कैसे हो सकती है ? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित, क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है, आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? अच्छा आश्रय को छोड़िए। साधारणीकरण नायक का होता है 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।"[1] इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था; परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूंजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुञ्जीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूंजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है। नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? अर्थात् पुष्प-वाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ,

१. भट्टतौत।

उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) 'शांतं पापं, शांतं पापं' कह उठता है, और उसने स्पष्ट शब्दों में तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या एसा होता नहीं ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित श्रृङ्गार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नहीं देखेंगे श्रृङ्गार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नहीं है. क्योंकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं सर्वथा स्वतन्त्र है; जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रह हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के श्रृङ्गार-चित्रों से स्पष्ट है हमें अमिश्रित श्रृङ्गार नहीं मिलता। हम काव्य की सीता से प्रेम करते ह और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है अथात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ ह कवि की अनुभूति का साधारणीकरण; जो भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते ह कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वतमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सबमें नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में "जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती है कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर म तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण सेस हानुभूति है इसलिए 'मेघनाद-वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ

भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आयगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूंजीपति नायक अपनी कुत्साओं म जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत करके उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पायँगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृङ्गार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमार-संभव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृङ्गार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्-विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि (Complex) नहीं थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश-विदेश के पंडितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१. साधारणीकरण भाषा का धर्म है, २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्ट नायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है। भट्ट नायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं: ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है

कि कोई प्रतीक-विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदयों में भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य तो यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक-तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहिए कि इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आय, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है; और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है, मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी मे होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हो। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।

इतना होते हुए भी भट्टनायक का सिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रान्त नही है। उसकी सबसे बड़ी भ्रान्ति है काव्य-शब्द में भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियों की कल्पना; जो पूर्णतः निराधार है। व्याकरण, मीमांसा आदि किसी में भी इनका संकेत नहीं मिलता।

इस त्रुटि का संशोधन अभिनव गुप्त ने किया, जो 'भरत-सूत्र' का चौथा व्याख्याकार था। उसने इस समस्या को बड़े अच्छे ढंग से सुलझा दिया। उसका सिद्धान्त इस प्रकार है—मानव-आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओं में, विशेषकर सहृदयों की आत्माओं में, स्वभाव से ही सांसारिक अनुभव पूर्वजन्म अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ संस्कार रूप में स्थित रहती हैं। ये वासनाएँ ही पारिभाषिक शब्दावली में

स्थायी भाव कहलाती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उद्‌बुद्ध होकर रस रूप मे परिणत हो जाते हैं अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त हो जाते है जहाँ एक आनन्दमयी चेतना के रूप में उसका अनुभव होता है। यहाँ आकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। वह मेरा या दूसरे का न रहकर साधारण भाव-मात्र रह जाता है और इस प्रकार वह सर्वग्राह्य बनकर एक साथ इतना तीव्र हो जाता है कि उसका भावत्व भी नष्ट हो जाता है। केवल एक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। कालिदास ने इसी की ओर स्पष्ट संकेत किया है :

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
> भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥[1]

अर्थात् रम्य दृश्यो को देखकर या मधुर शब्दो को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व के जन्मों के स्नेह-सम्बन्धों की, जो उसके अचेतन मन में स्थिर (स्थायी) भावों के रूप में स्थित है, अनायास ही सुधि आ रही है।

कालिदास के छन्द मे '[illegible]' तो स्पष्टतः स्थायी भाव है ही और सुधि आने का तात्पर्य है अचेतन मन से चेतन मन में आ जाना—ठीक वही जो अभिनव गुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। इस ममय चित्त की एकाग्रता के कारण तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य रहता है और आत्मा का स्वप्रकाश या स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है।[2] इस प्रकार रस की न तो उत्पत्ति होती है और न अनुमिति, और न भुक्ति; उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नहीं होता सहृदय की अपनी आत्मा में से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। अभिनव वास्तव मे आभासवादी वेदान्ती है, जो वस्तु की स्थिति न मानकर केवल चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करता है। विदेश में हीगेल, ह्यम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धात है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते है, विषयगत नहीं।

अभिनव गुप्त का सिद्धांत भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। भट्टनायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धांत भी काव्यानन्द उद्रेक के समय तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है वह बिना संशोधन के स्वीकार कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि अभिनव गुप्त भावकत्व और

१. 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', अंक ५
२. देखिये 'नवरस', गुलाबराय

भोजकत्व को निराधार घोषित करता हुआ उनके स्थान पर व्यंजना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकृत करता है। भट्टनायक का मत है कि काव्य की प्रकृति ही ऐसी है कि सहृदय को पहले इसका अर्थ-ग्रहण, फिर भावन अर्थात् निर्विशेष रूप से चिंतन, और उसके उपरांत तुरन्त ही आनन्द-प्राप्ति सहज में हो जाती है; परन्तु अभिनव यह मानता है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति-मात्र करता है। मम्मट, विश्वनाथ, पंण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सामान्यतः अभिनव गुप्त के सिद्धांत को ही स्वीकृत किया है।

विवेचन :—अभिनव गुप्त का सिद्धात भारतीय साहित्य-शास्त्र में सर्वमान्य-सा ही हो गया है और वास्तव में वह बहुत अंशों में पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु मे नहीं; वस्तु तो केवल उसको उद्‌बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन मे हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते है कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है; वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्त्व रूप में कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में तो, जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नही होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्त्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नही होता, क्योकि संवेद्य कवि की अनुभूति ही है, कथा का एक अणु भी नही। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहरायगा? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरश दुहराते भी है, तो उसके द्वारा वास्तव मे हम अपनी ही बात कहते है। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नही। इस प्रकार तत्त्व रूप मे वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नही है। अतएव वस्तु या विषय मे रस खोजना अर्थवाद से अधिक नहीं है। वस्तु के अन्तर्गत भट्ट लोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं। ये नायक-नायिकाएँ भी (चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित,) काव्य में कवि से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक व्याज-मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा में बँधे हुए शकुंतला और दुष्यंत व्यक्तियों की हमारे लिए (नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए) उस समय कम-से-कम कोई सत्ता नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यंत और शकुन्तला

के नाम बदलकर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिए जायँ या हमें इतिहास (महाभारत) का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्ववेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि 'महाभारत' का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है तो भी 'शाकुन्तलम्' पढ़कर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक हैं (यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता) ! अब देखिए कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माईकेल मधुसूदन दत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमें रस दशा तक पहुँचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा ? इस प्रकार मैथिलीशरण-गुप्त की यह उक्ति :

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।[१]

मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की नहीं। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमें प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे अन्तर्मन में पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात-मात्र ही है, वह स्वतन्त्र अस्तित्ववान नहीं है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें 'रामायण', 'रामचरित-मानस', 'साकेत' आदि पढ़कर कदापि नहीं हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है); दूसरे उन्होंने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा, पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगार रस' का नहीं। यह संयोग-मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होंगे अथवा सीता-वियोग में विषण्ण वा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है ? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य में पढ़कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है, सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है ? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'।

---

१ 'साकेत'

क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने हृदय-रस का अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अंतर में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हे। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है; (मु = सुलभ् + ख = आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्मा का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मैं हूँ" यही रस का सार तत्त्व है।[1] विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनंद को 'अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य' (Systematization of Impulses) ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अंतर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है–फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी संवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय की रस-चेतना जागृत हो जाती है ? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस में डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूति को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में। क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नही है तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा। पहले तथ्य के प्रमाण में अनेक नीरस छंद उद्धृत किये जा सकते हे और दूसरे के प्रमाण में अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति , जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था; या भट्टतौत का यह सिद्धान्त कि नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है,[2] या फिर अभिनव गुप्त की यह उक्ति कि 'कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है, वह भाव कहलाता है,[3]–ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हे कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप में

---

१. डॉ० भगवानदास, 'रस-मीमांसा'–द्वि० अ० ग्र०

२. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

३. वागंगमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तरगतं भाव भावयन् भाव उच्यते।
(देखिये, डॉक्टर दास गुप्त का 'काव्य-विचार')

कवि की अनुभूति को संस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे पृथक् ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धांत भी उपेक्षित-सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य मे नट-नटी की सत्ता और माननी पड़ेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है? रस की स्थिति उनके हृदय में भी माननी पड़ेगी। नट-नटी भी अनिवार्यत. सहृदय ही होने चाहिएँ अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकते। जब वे सवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने में सफल हो सकेंगे। इसलिए उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गए संस्कृत-आचार्यो के सभी आक्षेप अनुचित है।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है: इसमे सन्देह नहीं कि क्या पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं रस ले सका हो अथवा अपनी अस्मिता का रस ले सका हो, नाटक में नट-नटी के विषय में भी यह सत्य मानना पडेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये।

डांडी-यात्रा पर जाते हुए गाधी जी का प्रसंग है। यह अतर्क्य है कि गांधी जी ने उस समय एक सात्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझमें भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप में उस भाव को ग्रहण किया; फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' मे महामानव गांधी का यह सात्विक उत्साह शब्दबद्ध कर दिया। मैने उसे पढ़ा और एक सात्विक आनन्द का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव है: एक अनुभव स्वयं गांधी जी का; दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गांधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य रूप देने में प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गांधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इसमें रस-संज्ञा किसको दी जा सकती है? गांधी जी अनुभव को? नहीं। वह तो भाव (Emotion)-मात्र है जो इस प्रसंग में मधुर है, अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गांधी जी की खीझ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते है—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गांधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद में प्रत्यक्ष न रह कर संस्कार-मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने का अर्थात्

बिब रूप में उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य रूप देने मे वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस मे काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरम्भ में रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासना-रूप में स्थित स्थायी भावों को जागृत करके रस-दशा तक पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है।

रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः ॥१

उपर्युक्त पद्यों में कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत रस-शास्त्र में वर्णित रस के स्वरूप का सार अंकित कर दिया है। यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कारप्राण आदि पदों द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, 'स्वाकारवदभिन्न' के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामतः संस्कृत-रस-शास्त्र में रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं —

१. आस्वाद्यते (रस्यते) इति रसः—जिसका आस्वादन हो वह रस है—अर्थात् रस आस्वाद रूप है। उसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते हैं। रस सहृदय-संवेद्य हैं।

२. यह आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। अखंड का अर्थ यह है कि इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक् या खंड चेतना नहीं होती; वरन् सभी की अखंड चेतना होती

१. 'साहित्य दर्पण' तृतीय परिच्छेद

है। दूसरे इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे यह अनुभूति 'चिन्मय' है—अर्थात् अनिच्छापूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धि सहित होती है। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यह है कि उसमें ऐन्द्रियता नही होती। रस-चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। शृङ्गार रस का अनुभव जुगुप्सा, या करुण रस का अनुभव शोक का अनुभव नही है। "भाव क्षोभ संरभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश अंग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, आस्वादन रस है।'[1]

३. यह आनन्द चमत्कार-प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया है परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द में यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देखकर मन में आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कलाकृति (उदाहरण के लिए ताजमहल) को देखकर मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती, उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेश के सौन्दर्य-शास्त्र में भी सौन्दर्य अनुभूति में विस्मय (Wonder) का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है, प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, कवि की लोकोत्तर सृजन-प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है, बस। इसके आगे, अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल अर्थ में ग्रहण करके पेचीदा मजमूनों के गोरखधन्धे इकट्ठे कर दिए हैं।

४. रस न ज्ञाप्य है, न कार्य; न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष; न वह निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक; अतएव किसी मौलिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है। ब्रह्मानन्द-सहोदर है: सवितर्क ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं। क्योंकि उसमें तो अहंकारमयी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु रस में ऐसा नहीं होता। संक्षेप में आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं—

१. क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?
२. क्या रस अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है?
३. क्या यह आनन्द अभी तक निराला है?

---

१. 'रस मीमांसा'—डॉ० भगवानदास।

आनन्द के विषय में मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है अर्थात् जीवन की समस्त क्रियाएँ आनन्दोन्मुख हैं। यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हेडोनिस्ट) कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नहीं रखतीं, ये अपना लक्ष्य आप ही हैं अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है, जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी (होरमिक); इनमें पहला जीवन को साधन और आनन्द को साध्य मानता है। यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है, दूसरा जीवन को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानता है, यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं। वे आनन्द की स्थिति स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे अनुभूति या भाव की विधि मानते हैं लक्ष्य नहीं, और इस प्रकार काव्य में आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नहीं देते—उसकी सत्ता को साधारण रूप में स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नहीं मानते। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नहीं मानते।[1] परन्तु वास्तव में इस विवेचन में शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नहीं है। आनन्द को ये लोग हमारी अंतर्वृत्तियों की क्रिया की सफलता-मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियों की क्रिया सफल होती है—वे तृप्त हो जाती हैं, तो हमें आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नहीं है, महत्त्व है कि क्रिया का, और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगों का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियों के संकलन और समन्वय से आँका जाना चाहिए। जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तियों को संकलित और समन्वित करेगी, उतनी ही मूल्यवान होगी। काव्य और कला में इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है, अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान सम्पत्ति हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अंतर्वृत्तियों का समन्वय, जो उसकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नहीं है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नहीं है, आनन्द से भिन्न है, वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द

१ To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude Obviously it is the poem in which we should be interested, and not in a by-product of having managed successfully to read it.

... ... This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had a still poorer psychological vocabulary than our own, is one reason why Tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure - Principles of Literary Criticism
by - I. A. Richards. P - 96 - 97.)

उस अनुभूति की विधि-मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूनि का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है ?

आप अपनी स्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनो मे विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने माथ किमी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नही कर सकता। अतएव वृत्तियों के मकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण मंकलित अवस्था मे तृप्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकलन की अनुभूति अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकनी है ? वास्तव में आनन्द का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करता है। हाँ, स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त मे स्वस्थ आनन्द की (जो वास्तविक और जीवनप्रद है) प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है, और इसे मान लेने मे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समर्थ विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है, इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय है जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते है। परन्तु उनसे हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है उसे निर्वितर्क समाधि तक ले जाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नही करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' की दशा तक जाते है। परन्तु वहां तो अनुभूति की सत्ता ही नही रहती निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है। इस विषय में पहली स्थिति तो यही है कि रस का आनन्द भाव (Emotion) से भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी तो रस की प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और श्रृङ्गार रस के आनन्द मे अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है। परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और वीभत्स रम अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण रस में अभिन्नता कैसे हो सकती है। यद्यपि इतना मानना पडेगा कि इनमे सम्बन्ध अवश्य है। न श्रृङ्गार रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण रम शोक की अनुभूति से। अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उमके स्थायी भाव से मूलतः सम्बद्ध है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक् है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नही कहना। इसके आगे तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक ? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलतः तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं—
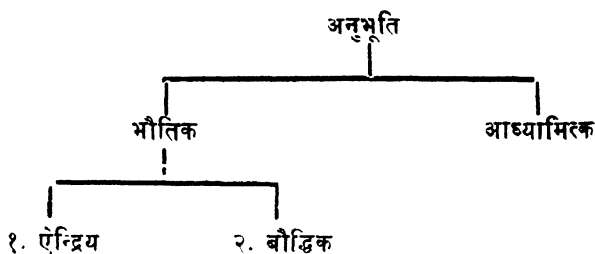
स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्थूल है आत्यन्तिक नहीं है; क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है। अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आत्मिक क्रिया मनुष्य में कैसे कृत-कार्य हो सकती है। अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है--एकमात्रता का नही। उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु,

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमें से किसके अंतर्गत आता है या यह किसी के अन्तर्गत ही नहीं आता, स्वतः-सापेक्ष्य और स्वतन्त्र है? संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानन्द न ऐसा है न वैसा, अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश में उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहाँ का आद्याचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करता था--आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक् ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नहीं माना है, परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक् रखा है। शताब्दियों तक यूरोप में प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणतः मान्य रहे, परन्तु बाद में रोमन विद्वान् प्लोटीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया--

"The beauty of natural objects is the archetype existing in the soul which is the fountain of all natural beauty. Thus was Plato in error (he said). when he despised arts for imitating nature, for nature her-

self imitates the idea, and art also seeks her inspiration directly from those ideas whence nature proceeds." [१]

इसका सारांश यह है—प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रांत है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ज्ञान की अनुकृति है इसलिए (अनुकृति की अनुकृति होने के कारण) कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटिनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए, उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया और फिर इसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतः आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का आवर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनों से पृथक् रूप में सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है, जो वस्तु के मूल रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप के बीच में मिलने वाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनों से भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का थोड़ा सा आभास मिलता है। उन्नीसवी शताब्दी में रोमाण्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि बुद्धि की उपेक्षा करके काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अस्थिर हो गया, प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे-धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे, जिसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवीं शताब्दी के पहले चरण मे ब्रैडले और क्लाइब आदि में निश्चित रूप से सुनाई पड़ी। इसके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है, जो लौकिक अनुभूतियों का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावलि द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बैनोडेटो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर मानव प्राण-चेतना में सहजानुभूति की एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। इनके सिद्धांत के अनुसार काव्यानुभूति, बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति सहजानुभूति है, जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओं (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर बिम्बों से होता है। क्रोचे का यह मत कला-

१. Aesthetic : Historical Summary—B. Croce

वादियों के मत का वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश-विदेश के साहित्य-शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द-विषयक पाँच सिद्धांत मिलते हैं—

१. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो न और आधुनिक युग में परिपोषण किया ड्यूबाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

२. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौंदर्य-रूप है, सहज आनन्द-रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है, अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं, हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है।

३. काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित-रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

४. काव्यानन्द सहजानुभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्तक हैं क्रोचे।

५. काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है जो स्वतः सापेक्ष्य है। यह काफी पुराना सिद्धान्त है। विदेश में इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डॉ० ब्रैडले[1] द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थियों का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति (direct perception) नहीं है, यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है। क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी, जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं, क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज मान्य नहीं है, दूसरे काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध, अचंचल आनंद का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एडीसन का कल्पना का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय)

---

१ i. "First this experience is an end in it-self, is worth having on its own account, has an intrisic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone.........For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world as we commonly understand that phrase but to be a world by itself, independent, complete, autonomous"

(A. C. Bradley, Oxford Lectures on Poetry p. 5)

ii. "Thus Mr. Clive Bell used to maintain the existence of an

और बुद्धि की क्रिया-मात्र है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनन्द से स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहानुभूति की शक्ति (Intuition) को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तैयार नही है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान में कोई पृथक् स्थान नही है। अंत में काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्वतःसापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नही, उसमे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियाँ दी जा सकती हैं, परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है। वे कहते हैं कि जब सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नहीं है तो उस अनुभूति को भी विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है। उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है। इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे मानें; अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात् बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णीत करना होगा। हम देखते है कि काव्यानुभूति में चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक संवेदना तो होते ही हैं—रोमांच, अश्रु आदि शारीरिक संवेदना भी प्रायः अनुभूत होते हैं, अतएव काव्यानुभूति मे ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमें न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी संदेह किया है। परन्तु हम यह भी देखते है कि प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श करके चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा उनसे भी किंचित् भिन्न नाटक पढ़कर प्राप्त होता है। चित्त में द्रुति और शरीर में रोमाच इस समय भी होता है, पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है? स्पष्टतः उतना प्रत्यक्ष, अतएव उतना तीव्र नहीं होता। दोनों में भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता, एवं तीव्रता की मात्रा की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह (काव्य का) अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नहीं है, भावित (Contemplated)

---

unique emotion — aesthetic emotion."

(Richards I. A., Principles of Literary Criticism)

iii. "To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions."........and to not forget that a knowledge of life can help no one to our understanding.

(Clive Bell, art, p. 75)

घटना का अनुभव है। भावना करने में पहले कवि को, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नही है, भावित अनुभूति है। अर्थात् उसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वों का लवण-नीर-संयोग है। अब एक शब्द रह गया अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ में केवल संवेदन (sensations) रह जाते है। जिनको वास्तव मे हम अपने मनो-जगत् के अणु-परमाणु कह सकते है। शारीरिक रूप में यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं, मानसिक रूप में ये सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते है, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते है, अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते है कि वे लगभग अरूप ही से लगते है। उनका रूप नही, केवल अन्विति-सूत्र ही रह जाता है : जैसे बहुत बारीक जंजीर की कड़ियाँ नहीं दिखाई पड़ती केवल सूत्र ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार वास्तव मे अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन-रूप ही है उसमें (शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपों में) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है मूलगत प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द संवेदन रूप ही है परन्तु ये सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते है। साधारण रूप मे प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के सवेदनों की कल्पना कर सकते है---१. एक तो शुद्ध प्राकृतिक संवेदन (ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते है), जो उदाहरण के लिए हमे अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते है। २. दूसरे वे संवेदन, जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं---ये मानो पहले प्रकार के सवेदनो के बिम्ब रूप है। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष तथा स्थूल कम, और आंतरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते है। ३.तीसरे वे संवेदन, जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते है। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब है और स्वभाव से ही अत्यन्त आंतरिक एव सूक्ष्म होते है। वास्तव में इनका स्थूल शारीरिक अश प्रायः नष्ट ही हो जाता है। इन्हे हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं मे हमे इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते है। प्रत्यक्ष जीवन मे प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव मे आते है, परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के सवेदन भी होते है जो स्मृति के भावन से (क्रोचे के शब्दों में उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावलि मे उसको काव्य-रूप में उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते हैं। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव, स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसी के अनुपात से उसके संवेदन भी एक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते हैं। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है।

इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है। यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति संवेदनों से ही निर्मित है तो कटु-संवेदनों के काव्य रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है! इसका समाधान करने से पूर्व कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने-आपमें कटु है और न मधुर; कटुता और मधुरता तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विश्रृङ्खल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने अभी कहा-काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं। इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है; क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्व-रूप संवेदन के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

भाव का विवेचन

भाव की परिभाषा :—संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। साधारण रूप में हम कह सकते हैं कि "बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिल-कर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भाव या मनोविकार का वर्णन करते हुए लिखा है :

"We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity; aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination."[१]

"(स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि) विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र विचारों द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है; जिसके दो प्रधान गुण हैं, अनुभूति और प्रयत्न।" और स्पष्ट शब्दों में डॉ० मैकडूगल के आधार पर

१. Elements of Psychology--Mellone and Drummond,

यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओं में ओज का संचरण होने लगता है। ओज-संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक् नाम दे सकते हैं। "यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति" और "उत्तेजना में निहित विशिष्टता" दोनों भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं, और "स्नाय एवं पेशियों में ओज का संचरण" उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य हैं—

१. भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी, क्योंकि भाव वास्तव मे व्यक्ति की वस्तु अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२. भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

३. इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

४. भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन-स्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

५. किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायगी, उसम अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।

मनोविज्ञान के पण्डितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्य-क्रम को लेकर बहुत-कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है। स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय में यह क्रम नहीं माना जा सकता। उनके मत में प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य है। हम इस विचार में न पड़कर यही कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का अन्तर—मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर—संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है, अतएव उसने प्रकृत भाव (Emotion) की परिभाषा नहीं की। उसन या तो 'स्थायी' और 'संचारी भाव' की परिभाषा की है, या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ में पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।।

अर्थात् अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको न छिपा सकें, जो आस्वादन अंकुर का मूल हो वही भाव स्थायी भाव कहलाता है । इसके विपरीत--

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ।।

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न, निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत-तिरोभूत होने वाले (स्थायी भाव रूपी जल में तरंगों की भाँति संचरण करने वाले) भाव संचारी कहलाते है । उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते है, संचारी अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है, और संचारी एक संचरण-शील मनोविकार है। यह अन्तर बहुत-कुछ वैसा ही है, जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' (Sentiment) और 'मनोविकार' (Emotion) के बीच में पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा--एक दृष्टिकोण है; मनोविकार एक अस्थिर संचरण-शील विकार-मात्र है । "मनोविकार एक संचरण शील अनुभव है । मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारों और मानसिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है । मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक सस्थान है, अथवा उसका एक अंश है......।" [१] संक्षेपतः मनोविकार और मनोवृत्ति में दो मुख्य अन्तर हैं--

१. मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर ।

२. मनोविकार स्वभाव, वृति या मात्रा (Ins tinct) से सम्बद्ध है; मनोवृति विचार (Idea) से; अर्थात् उसमें बौद्धिक तत्त्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है ।

संस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टतः मनोविज्ञान का मनोविकार है । यहाँ हम संचारी की परिधि में रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे है; क्योंकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायी न होकर समय-समय पर संचार के रूप में सामने आते हैं ।

स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति--अब प्रश्न रह जाता है स्थायी भाव का । स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है ? संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अनुसार स्थायी भाव की विशेषताएँ हैं--

---

[१] Emotion is a fleeting experience; Sentiment is an aquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities; it is an organization (or a part of total organization)......।

१. स्थायी भाव (अपेक्षाकृत) स्थिर है ।

२. स्थायी भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है ।

३. और इसीलिए वही रस दशा को प्राप्त हो सकता है, संचारी नहीं ।

(बयालीस भावों म से ये विशेषताएँ केवल नौ में ही हैं और इसीलिए शेष तेंतीस में उनको पृथक् करके स्थायी भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है ।)

मनोविज्ञान में मनोविकार या भाव के केवल तीन रूप ही माने गए हैं--

१. मौलिक मनोविकार (Primary Emotion)-जो स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है, जैसे-भय ।

२. व्युत्पन्न मनोविकार (Derived Emotion)-जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है, जैसे-आशंका ।

३. मनोवृत्ति (Sentiment)-जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे-कर्तव्य ।

अब आप देखे कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नहीं कह सकते । उदाहरण के लिए निर्वेद या शम् एक शुद्ध मनोविकार नहीं है । एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है । अद्भुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है । व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि इनमें से सभी व्युत्पन्न नहीं हैं । भय, क्रोध आदि स्पष्टतः ही मौलिक हैं । अब रह जाती है मनोवृत्ति-तो स्थूलतः स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत-कुछ समरूप होता हुआ भी अन्ततः उससे भिन्न है ।

समता--१. मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है ।

२. मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है, जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं ।

विषमता--परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी हैं--

१. मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति-मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता । मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, मनोवृत्ति स्वयं का नहीं । उदाहरण के लिए देश-भक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता, उसके आश्रित या संचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है; परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः आस्वाद्य ह । कर्तव्य मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है ।

२. मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है, हर्ष की आवृत्ति करते रहिये, पर वह रति नहीं बन पायगा।

३. मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थायी भाव (शम को छोड़कर) विचारमूलक नहीं--प्रवृत्तिमूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप में तो साहित्य-शास्त्र के स्थायी भाव का स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषाओं में पूरी तरह नहीं घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ में शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्गमन की विधि से स्थायी संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद में आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचाकर इन्हीं की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष बनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप में सामने रखी जा सकती है—

१. मानव-हृदय में उठने वाली तरंगों के योग से जो विभिन्न मनोविकार बनते हैं उनकी संख्या बयालिस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के हैं। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य हैं, अतएव इनको विशेष महत्त्व दिया गया है और पारिभाषिक शब्दावली में स्थायी की संज्ञा दे दी गई है।

२. इस प्रकार के अर्थात् रस में परिणत होने योग्य भाव केवल नौ ही हैं—अन्य भाव या तो इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं, जैसे दानशीलता, धर्म-प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते हैं (आज के गांधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देश-भक्ति, भगतसिंह का आतंकवाद तथा राहुल संकृत्यायन की साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टतः उत्साह के ही अंतर्गत आ जायँगे); और या फिर रस दशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण स्थायी पद के अधिकारी नहीं बन पाते–उदाहरण के लिए (शास्त्र के अनुसार) 'वात्सल्य' या देवादि-विषयक रति भाव ही हैं—'स्थायी भाव' नहीं हैं।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—

१. क्या स्थायी और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है।

२. क्या स्थायियों की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तैंतीस ही ? पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन में ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ तो दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक (शुद्ध) और व्युत्पन्न मनोविकार का; दूसरा मनोविकार

और मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नहीं करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है, जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नहीं करता। परन्तु फिर भी जीवन में इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही, और रहेगा भी। विज्ञान इस पचड़े में नहीं पड़ता, क्योंकि यह सब उसकी परिधि से बाहर है; परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, तो इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार भाव-क्षेत्र में भी एक भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अर्थात् तीव्र एवं स्थायी है; अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करता, परन्तु साहित्य के लिए इसका संबंध भाव के जीवनगत उपयोग से है, इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य-विधान किया है। वह भी एक दृष्किोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिन्ता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा, इसी प्रकार चिन्ता की अपेक्षा शोक में स्थायित्व भी स्पष्टतः अधिक है—शोक में चिन्ता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिन्ता में शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिन्ता की अपेक्षा शोक वास्तव में अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावों के विषय में भी कहा जा सकता है।

संक्षेप में यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, परन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है, जो मानव-स्वभाव के मूल अंग हैं, पाश्चात्य दर्शन में जिन्हें साधारणतः मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) कहा गया है। इन मनोवेगों का सीधा संबन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण राग-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अहं (ego) या आत्माभिव्यक्ति (self-expression) के रूप में निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियाँ हैं राग और द्वेष—जो मानव-जीवन के दो मौलिक अनुभवों—सुख और दुःख के वैज्ञानिक पर्याय-मात्र हैं—'सुखात् रागः, दुःखात् द्वेषः।' आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र में इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) और नाश करने की प्रवृत्ति (Thanatos) कहा गया है। और गहरे में जायें तो फ्रायड का 'काम' मूलतः राग ही है'

और आडलर का 'हीन भाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत हैं—एक फ्रायड का, जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है; दूसरा आडलर का, जो हीन-भाव या क्षति-पूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युङ्ग का, जो इन दोनों को जीवनेच्छा (या स्वत्व-रक्षा)—हमारे शब्दों में अस्मिता के पोषण की शाखाएँ मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धांत सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत् का विस्तार होता है। जैसा कि डॉ० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढङ्ग से प्रदर्शित किया है, संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावों का इन्हीं मूल भावों के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं, और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा, अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत;——निर्वेद में इन दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है। उसमें अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति हैं, दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। निर्वेद में दोनों का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विभाजन आत्यन्तिक नहीं है—— तत्त्वतः तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव में जैसा कि मनोविश्लेषक कहता है राग और द्वेष (Libido and Thanatos) के संघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन (Psychic Life) संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप में आपको द्वेष का अंश मिले या शोक में राग का, तो चौंकना नहीं चाहिए; यों तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नहीं है।

रसों और भावों की संख्या——अब दूसरे प्रश्न को लीजिये। यह मान लेने पर कि स्थायी भावों की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों (Elemental Passions) की स्थिति से अभिन्न है और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार भी है ही, जो अमनोवैज्ञानिक नहीं है, एक और प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही हैं अर्थात् क्या मनोभावों की संख्या नौ ही है, कम-अधिक नहीं? यह प्रश्न संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में अनेक बार उठा है। स्थायी भावों को बढाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है——उन सभी को केवल एक मूल स्थायी भाव के अंतर्भूत करने की चेष्टा की गई है, परन्तु अन्त में परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावों की संख्या नौ ही है और नौ ही होनी चाहिए। भरत ने मूलतः आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने हैं; उनमें भी शृङ्गार, वीर, रौद्र और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह, क्रोध, और जुगुप्सा को प्रधान और मौलिक माना है; और हास्य, करुण, भयानक तथा अद्भुत तदनुसार हास, शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। उन्होंने—

श्रृङ्गार से हास्य---तदनुसार रति से हास,
वीर से अद्भुत— ,, उत्साह से विस्मय,
रौद्र से करुण— ,, क्रोध से शोक,
वीभत्स से भयानक-- ,, जुगुप्सा से भय,

की उत्पत्ति मानी है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नहीं किया। बाद में 'शान्तोऽपि नवमो रस:' कहकर शांत भी जोड़ दिया गया। पहले पण्डितों का मत था कि शांत की उद्भावना उद्भट ने की, परन्तु आज प्राय: अभिनव के आधार पर भरत को ही इसका भी श्रेय दिया जाता है। इसके उपरांत रसों और स्थायी भावों की संख्या को बढ़ाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दो हैं---१. विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थायी की प्रतिष्ठा। २. भक्त आचार्यों, विशेषकर रूपगोस्वामी द्वारा भक्ति रस और भगवत-रति की स्थायी प्रतिष्ठा।

परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ और उनके बाद के आचार्यो ने इन उद्भावनाओं का निषेध किया। पण्डितराज ने तो वीर के भी युद्ध वीर आदि अंतर्विभाजन को निरर्थक घोषित किया; क्योंकि इस प्रकार तो पाण्डित्यवीर आदि अनेक अवान्तर भेद होते जायँगे।[1] इन परम्परा-दृढ़ पण्डितों ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति के अयोग्य ठहराकर 'भाव'-मात्र ही माना। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण व्यक्ति के लिए देवादि-विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ पाती; क्योंकि उसका आलम्बन परोक्ष एवं अमूर्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति में असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा, सूर, तुलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, लेकिन हाँ इनकी भक्ति को उसकी अन्त:प्रेरणा के अनुसार स्थूलत: रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होंने प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन किया है—वहाँ भी, कहीं तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है; जैसे—सूर के अनेक पदों में, जिनमें कृष्ण की रूप-

---

१ "वस्तुतस्तु बहवो वीर रसस्य श्रृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथा हि प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादि पद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैतु सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यांतरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि संभवात्। न च सत्यस्यापि धर्मान्तरगततया धर्मवीर रस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम्।

दानदयपयोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात्पृथग्गणना नौचित्यात्। एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।'

(रस गंगाधार)
काव्यमाला संस्करण, पृष्ठ ४१

माधुरी का अंकन किया गया है, और कहीं स्पष्ट निर्वेद का; जैसे—तुलसी के बहुत से पदों में, जहाँ संसार की असारता और कराल कलि-काल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना की गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते हैं, जिनमें प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्हीं निर्णीत स्थायी भावों में रह जाता है। जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है। वैसे भी आज के मनोविश्लेषकों ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है। परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी। *क्योंकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा—पुत्रषणा से है। विदेश के सभी मनोवैज्ञानिकों ने भी मातृ-वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एवं प्रधान वृत्ति माना है। वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बड़ी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है। दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढंग पर विस्तार न किया जाय, वात्सल्य को रति के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। सूर के वात्सल्य-चित्रों को क्या रस का अधिकारी नहीं माना जायगा, या उनको श्रृङ्गार के अन्तर्गत रख दिया जायगा ? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है, जैसे मैत्री, जिसको ध्यान में रखकर ही रुद्रट ने 'प्रेयान्' रस का आविष्कार किया था। परन्तु वास्तव में मैत्री शुद्ध भाव न होकर एक मनोवृत्ति है, जिसमें अनेक भावों का संमिश्रण रहता है। साधारणतः यह भाव रस दशा को नहीं पहुँच पाता—वृत्तियों का पूर्ण सामंजस्य और निलय केवल मित्र भाव के कारण नहीं हो पाता; जहाँ कहीं होता है वहाँ उसमें काम या उत्साह-जैसे किसी प्रगाढ़ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस :—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ में सेंटीमेंट (Sentiment) शब्द का प्रयोग किया है और साधारणतः काव्यगत मनोवेगों को सुन्दर (Beautiful), उदात्त (Sublime), करुण (Pathetic) और हास्यमय (Humorous) इन चार रूपों में विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौन्दर्य भाव वास्तव में निरपेक्ष मनोविकार नहीं है। वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी वृत्तियों में सामंजस्य-मात्र ही स्थापित होता है तो हमारी प्रतिक्रिया हर्ष है, यदि उसके प्रति स्थायी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है तो रति हो जायगी और यदि उसको देखकर चित्त चमत्कृत होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायगी। इन तीनों या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्ररूप से पृथक् सौन्दर्य-भावना का कोई अस्तित्व नहीं है। सौन्दर्य-भावना जिस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है, उदात्त भावना इसी प्रकार आश्रय में हर्ष, भय और विस्मय का योग है, और आलम्बन में हर्ष और उत्साह का। वह भी निरपेक्ष भाव नहीं है। उसे स्थिति के अनुसार संस्कृत

का रस-शास्त्र अपने अद्भुत और वीर में अंतर्भूत कर सकता है। 'गीता' में कृष्ण का विराट् रूप अद्भुत के अन्तर्गत आयगा, 'रामायण' में दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तर्गत। यद्यपि यह मानने म आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनों को ही उदात्त या महान् कहना अधिक संगत होगा, परन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि उदात्त शब्द अधिक सचित्र तो है, पर वैज्ञानिक नहीं है। शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों शास्त्रों में एक ही हैं।

मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव:—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीव की मूल प्रवृत्तियों का अन्वेषण करके स्थूलत: उनकी संख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया है (ये प्रवृत्तियाँ मानव और मानवेतर प्राणियों में समान रूप से विद्यमान हैं)। परन्तु इन वैज्ञानिकों के निर्णय एक-स्वर नहीं ह। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव-मन एक गहन समुद्र है, जिसकी तरंगों अथवा वीचियों की निश्चित गणना करना साधारणत: सम्भव नहीं है। मैक्डूगल महोदय ने प्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध मनोविकारों का वर्णन इस प्रकार किया है:

प्रवृत्ति	प्रवृत्तिगत भाव
१. भोजनोपार्जन (भोजन अर्जन करने की प्रवृत्ति)	क्षुधा
२. अपकर्षण (किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति)	घृणा (जुगुप्सा)
३. काम (प्रेम और यौन संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति)	रति
४. भय (दु:खदायी वस्तु से बचकर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति)	भय
५. जिज्ञासा (नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति)	औत्सुक्य
६. सामाजिकता (सजातीय व्यक्तियों का साहचर्य लाभ करने की प्रवृत्ति)	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७. मातृ-भावना (अपत्य-स्नेह) (बच्चों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति)	वात्सल्य
८. आत्म-प्रतिष्ठा (अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने, दूसरों पर रौब जमाने की प्रवृत्ति)	गर्व (अहंकार)
९. अधीनता (अपने से अधिक बलवान् के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति)	दैन्य (कार्पण्य)
१०. क्रोध (बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न भिन्न कर देने की प्रवृत्ति)	क्रोध

११. आर्तप्रार्थना (स्वयं विफल एवं निराश हो जाने पर दूसरों की सहायता माँगने की प्रवृत्ति) — दुःखकातरता (distress)

१२. निर्माण (आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति) — सृजनोत्साह

१३. परिग्रह (वाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति) — अधिकार-भावना

१४. हास्य (दूसरों के दोषों और विकृतियों पर हँसने की प्रवृत्ति) — हास

पहले मैक्डूगल ने य १४ ही प्रवृत्तियाँ मानी थीं, परन्तु बाद में चार और जोड़ दीं—

आराम (Comfort)—ऐसे स्थान की खोज करना, जहाँ शरीर को सुख मिले ।

निद्रा—विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति ।

भ्रमण—नवीन स्थानों में भ्रमण करने की प्रवृत्ति ।

कफ, छींक, श्वास-प्रश्वास, मोचन आदि ।

इनका सम्बन्ध स्पष्टतः शारीरिक क्रियाओं से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मनःस्थिति बहुत स्पष्ट एवं विशिष्ट नहीं होती । निदान ये हमारे विशष उपयोग की नहों है । उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तिमूलक मनोविकारों में भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ ह । इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिये, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं है । वे स्पष्टतः एक-दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं । उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की परिधि म ही आ जाते हैं । कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। वास्तव में वे एक ही प्रवत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं । इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवत्तिमलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए । रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य, सहानुभूति (संगेच्छा) । इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायी भावों से प्रायः अभिन्न ही है । अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अंतर नहीं है । कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वास्तव में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती । यही बात संगेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है । अब संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक ! क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक (करुण) के तत्त्व नहीं माने जा सकते ?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नहीं है। स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण निर्दोष हो सकता है ?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण हैं—एक तो इन ततीस संचारियों में कुछ स्पष्टतः ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियाएँ ही अधिक हैं, मानसिक विकार उनमें गौण होता है। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा। दूसरे हमारे नित्य-प्रति के अनुभव में और भी अनेक ऐसे भाव आते हैं जिनकी स्थिति इन तेंतीस से बाहर ह। संस्कृत-आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है; मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आए हैं, परन्तु उसने उन सभी का इन्ही में अंतर्भाव कर दिया है, जैसे मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास में, दंभ का अवहित्थ में, ईर्ष्या का अमर्ष में, क्षमा का धृति में, उत्कण्ठा का औत्सुक्य में। परन्तु आज इससे संतोष नही होता। इस तरह तो धृति का मति में, विषाद का चिन्ता में अंतर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे ह जो इनकी परिधि से बाहर है। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अंतर्भेद या फिर द्वेष-पक्ष में असंतोष, अवमान, अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डॉक्टर भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारों की गणना की है, जिनमें उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के तेंतीस या बयालिस संचारियों की परिधि से बाहर पड़ते है। वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनका पृथक् रूप में वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है; क्योंकि मनो-विकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन में असंख्य तरंगें उठती हैं, जो एक-दूसरे से अनेक रूपों में मिलकर न जाने कितने मनोविकारों का आविर्भाव करती हैं। साधारणतः मौलिक मनोविकारों की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र और व्युत्पन्न मनोविकारों का तो अन्त ही कहाँ है ?

अन्त में मेरे निष्कर्ष ये हैं:—

१. आरम्भ में तो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के स्थायी भावों का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था, परन्तु बाद में दार्शनिक

आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर उन्हें व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है।

२. आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मनःशास्त्रों की कसौटी पर वह बहुत अंशों में खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगों की है, जो अपनी शक्ति, स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियाँ हैं।

३. इन मनोवेगों की संख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अंतर्गत ही सब सशक्त मनोवेगों का समाहार कर दिया है, इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि में भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम-से-कम कुछ-एक में (जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि में) रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्या के द्वारा स्थायी की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकती है।

संचारियों का वर्णन और विवेचन स्पष्टतः अपूर्ण और सदोष है, उनमें से ऐसे संचारी भावों को तो निकालना ही पड़ेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। आलोचक अधिक-से-अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारों को नाम और परिभाषा दे दी गई है, उनका काव्य-सामग्री के विश्लेषण में मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग कर ले। बस, इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नहीं है।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार-निरूपण :—अलंकार का भी सबसे पूर्व उल्लेख भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में ही मिलता है। भरत ने केवल चार अलंकारों का ही निरूपण किया है—और वह भी रूपक के सम्बन्ध से ही। अलंकार का सबसे प्रथम ग्रंथ, जिसमें उसका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है, भामह का 'काव्यालंकार' है। भरत के उपरान्त रस रूपक का ही मुख्य अंग माना जाने लगा था, काव्य में उक्ति का चमत्कार ही मुख्य था। भामह ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया। उसने दृश्य-काव्य की सर्वथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्य काव्य के अंगों का—प्रधानतः अलंकारोंका ही व्याख्यान किया है। परंतु भामह का विवेचन इतना व्यवस्थित और पूर्ण है कि उसको अलंकार-शास्त्र का एक साथ पहला ग्रंथ मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता। अलंकार की परम्परा भी रस-परम्परा की तरह

एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। और भामह ने स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानतः अलंकार-परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी से हो रहा था जब से पंडितों ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी— मेधाविन् इसी विकास-पथ का कोई प्रमुख मार्ग-चिह्न था।

मेधाविन् केवल नामशेष है, अतएव उन्होंने कितने अलंकारों का विवेचन किया है, यह अज्ञात है। भरत ने प्रसंगवश केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि भरत ने अलंकारों को वाचिक अभिनय का एक साधारण अंग ही माना है। 'नाट्य-शास्त्र' के बाद दूसरा ग्रंथ 'भट्टिकाव्य' है, जिसके दशम सर्ग में यमक और अनुप्रास सहित ३८ अलंकारों का उल्लेख है। भामह ने भी अलंकारों की संख्या ३८ मानी है और वक्रोक्ति को उन सबका प्राण माना है। उन्होंने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है और इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने रस और भाव का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर उसका रसवत्, ऊर्जस्वित् आदि अलंकारों में ही अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य का प्राण है अलंकार, और अलंकार का प्राण है वक्रोक्ति :

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥[1]

इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु और लेश को उन्होंने अलंकार-सीमा से बहिष्कृत कर दिया है।

वक्रोक्ति का अर्थ है शब्द और अर्थ की विचित्रता। इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम है :

वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।[2]

भामह के उपरान्त दण्डी ने अलंकार के विवेचन को और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होंने काव्य को अलंकार का शोभाकर धर्म माना, अर्थात् उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सर्वथा अलंकार के आश्रित है; अतएव अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। दंडी ने उनकी संख्या ३५ मानी है, भामह के कुछ अलंकार-भेदों को, (जैसे उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि को) उन्होंने छोड़ दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को, जिन्हें भामह ने वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार की पदवी नहीं दी थी, दंडी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक, चित्रबंध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालंकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व तथा विस्तार दिया है। दंडी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना है :

---

१ काव्यालंकार,

२ काव्यालंकार, १-३७

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम् ॥[1]

परन्तु वास्तव में दोनों के आशय में केवल शब्द-भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति से ही है। जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है 'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्'—और दोनों का अर्थ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चैवातिशयः.................अनया अतिशयोक्त्या विचित्रया भाव्यते'[2] भामह की अपेक्षा दंडी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने अलंकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया है। दंडी के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलंकार-सम्प्रदाय की और भी अधिक श्री-वृद्धि की। उद्भट ने यद्यपि लक्षण-निरूपण आदि में भामह का ही अनुसरण किया है। 'भामह-विवरण' नाम से उसने भामह के सिद्धांतों की व्याख्या भी की है, परन्तु उसका विवेचन इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती आलंकारिकों ने मुक्तकंठ से उद्भट की महत्ता को स्वीकार किया है। संक्षेप में उद्भट का आभार इस प्रकार है—

१. उद्भट ने दृष्टांत, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास की सर्वथा नवीन उद्भावना की, अनुप्रास के प्रभेदों में वृद्धि की; और इस प्रकार अलंकारों की संख्या को ३८ से ४१ तक पहुँचा दिया।

२. श्लेष के उसने दो भेद किये—१. शब्द-श्लेष, २. अर्थ-श्लेष; और दोनों को अर्थालंकार माना। बाद में मम्मट आदि ने इसका निषेध किया है।

३. व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका 'काव्य-प्रकाश' में वर्णन है, सबसे पूर्व उद्भट ने ही किये।[3]

अलंकार-सम्प्रदाय का सर्व प्रमुख आचार्य था रुद्रट। यद्यपि रुद्रट की दृष्टि अत्यंत व्यापक और उदार थी और यद्यपि उसने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सम्प्रदायों का समन्वय भी किया, फिर भी अलंकार-शास्त्र ही उसका विशेष रूप से ऋणी रहेगा। रुद्रट ने एक तो अलंकारों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण करके उनकी संख्या का विस्तार ५० से ऊपर कर दिया, दूसरे वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलंकार-शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी उसका संशोधन सबसे पूर्व रुद्रट ने ही किया। उसने रसवत् आदि को अलंकार मानने से साफ इन्कार कर दिया

१. काव्यादर्श २।२

२. लोचन अभिनव गुप्त

३. काणे-कृत 'साहित्य दर्पण' की भूमिका

और इस प्रकार एक बहुत बड़े भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार-सम्प्रदाय का सुवर्ण काल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार को ही प्रधानता देते थे। भामह और दंडी ने गुण और अलंकार में कोई अन्तर नहीं माना। 'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणाम् प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। तदेवमलंकारा एक काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ॥' रुद्रट के उपरान्त ध्वनि-संप्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलंकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य में शब्द-चित्र अथवा वाच्य-चित्ररूप अलंकार ही हो, व्यंग्यार्थ न हो, वह अधम माना गया। अलंकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने में स्वतंत्र है और न काव्य का अनिवार्य अंग ही है। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में क्या, भारतीय साहित्य-शास्त्र में भी यही मत मान्य रहा।

इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलंकार को उचित गौरव दिया। उन्होंने काव्य को सालंकार माना, परन्तु फिर भी 'अनलंकृती पुनः च क्वापि' कहकर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होंने प्राचीन सभी सिद्धांतों की सम्यक् परीक्षा करते हुए काव्य-पुरुष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया। उन्होंने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया। गुणों को काव्य का साक्षात् धर्म माना और अलंकारों को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[1]

अलंकार काव्य के अंग अर्थात् शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा बढ़ाते हुए काव्य का उपकार करते हैं—चमत्कृति में योग देते हैं। काव्य में उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में हार आदि आभूषणों का। और स्पष्ट रूप में—"शब्द अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा हैं। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना की तरह, और उपमादिक अलंकार कटक-कुण्डल आदि के तुल्य होते हैं।"[2]

अर्थात् अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं।

अलंकार के विवेचन में मम्मट ने भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतों की परीक्षा करते हुए अनेक परिवर्तन और परिशोधन किये। अलंकारों की संख्या अब ७० हो गई। ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार। "इनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य, और सम ये पाँच अलंकार नवीन हैं। और संभवतः श्री मम्मट द्वारा आविष्कृत हैं।"

---

१. काव्य प्रकाश

२. 'साहित्य-दर्पण'—विमला टीका

मम्मट के उपरान्त रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' की रचना की। रुय्यक ने विचित्र और विकल्प अलंकारों की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलंकारों का वर्गीकरण। रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त मानते हुए उसने निम्न-लिखित वर्गों की उद्भावना की—सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, श्रृङ्खलाबद्ध, न्यायमूल, गूढ़ार्थप्रतीतिमूल, और शंकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग में न रख-कर स्वतंत्र माना। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार-शास्त्र में कोई विशेष योग नहीं दिया। इसमें संदेह नहीं कि जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि पंडितों ने एक बार फिर अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का भरसक प्रयत्न किया।

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥[1]

की आह्वान-ध्वनि के साथ अलंकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नींव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। इसके उपरान्त अलंकार-परम्परा हिन्दी के रीति-कवियों के हाथ में चली गई। हिन्दी में भी यद्यपि आचार्य केशवदास ने कविता और वनिता के लिए अलंकार को अनिवार्य माना तथा अन्य कवियों ने भी अपने लक्षण-ग्रंथों में 'चन्द्रालोक' आदि की शैली का अनुसरण किया, परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

अलंकार की परिभाषा और धर्म :—अलंकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते हैं—अलंकरोतीति अलंकारः अर्थात् जो सुशोभित करता है, वह अलंकार है; अथवा अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। साधारणतः दोनों का आशय एक ही है, परन्तु पहले अर्थ में अलंकार कर्त्ता या विधायक है, दूसरे में करण-साधन है। वास्तव में अलंकार के विकास में ये दोनों व्युत्पत्ति-अर्थ अपना महत्त्व रखते हैं—व्युत्पत्ति-अर्थ में यह अन्तर इस बात का द्योतन करता है कि अलंकार किस प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर साधन-मात्र रह गया। अलंकार के सर्व-मान्य अर्थ को दृष्टि में रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक संगत है—जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन-मात्र है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अलंकार की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ हैं—पहली है अलंकारवादी दंडी की। इसके अनुसार 'काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'—अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं। इससे दो परिणाम निकलते हैं—

१. अलंकार काव्य के धर्म—अर्थात् सहज गुण हैं।

२. काव्य की शोभा अथवा सौंदर्य अलंकारों पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त परिभाषा अलंकार-सम्प्रदाय का सिद्धांत-वाक्य रही। परन्तु बाद में जब ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और रस की स्थापना स्थिर रूप से हो गई, अलंकार की परिभाषा भी बदल गई। रसवादी विश्वनाथ के शब्दों में :

---

१. चन्द्रालोक

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥[1]

'शोभा को अतिशयित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की तरह अलंकार कहाते हैं।' इससे निम्न-लिखित परिणाम निकलते हैं——

१. अलंकार काव्य के सहज एवं अनिवार्य गुण नहीं हैं। केवल अस्थिर धर्म हैं, अर्थात् कभी वर्तमान रहते हैं, कभी नहीं।

२. काव्य की शोभा (सौंदर्य) अलंकार पर निर्भर नहीं है। सत्काव्य में अलंकार जहाँ वर्तमान भी रहता है, वहाँ शोभा की सृष्टि नहीं करता केवल वृद्धि ही करता है।

३. काव्य का सौंदर्य है रस, अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है। अर्थात् सत्काव्य में अलंकार का स्वतंत्र अस्तित्व भी मान्य नहीं है।

उक्ति के चमत्कार का नाम अलंकार है इसमें तो किसी को भी विरोध नहीं है परन्तु आगे दो प्रश्न उठते हैं——

१. क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार काव्य है ?

२. क्या काव्य में उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है ? अर्थात् क्या प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है ?

अलंकार और रस सम्प्रदाय के बीच जो द्वंद्व रहा वह इन्हीं प्रश्नों पर अवलम्बित था। अलंकार-सम्प्रदाय दोनों का उत्तर "हाँ" में देता था, रस-सम्प्रदाय "नहीं" में; अर्थात् अलंकार-सम्प्रदाय का मत था कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है और प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान होना चाहिए; इसके विरुद्ध रस-सम्प्रदाय का कहना था कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है, और न प्रत्येक काव्योक्ति में ही चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है।

इन प्रश्नों को एक-एक करके लीजिये। क्या प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य है ? इसका उत्तर देने के लिए पहले चमत्कार का आशय स्पष्ट करना चाहिए। चमत्कार की मूल वृत्ति है कौतूहल। किसी असामान्य वस्तु को देखकर अथवा असाधारण उक्ति को सुन-कर हमारी कौतूहल वृत्ति जागृत होकर तृप्त होती है। काव्य में असाधारणता होनी अवश्य है, परन्तु काव्य की मूल वृत्ति कौतूहल नहीं है। काव्य का आनन्द वासनाओं की उद्‌बुद्धि दूसरे शब्दों में भावों की झंकृति से संबंध रखता है। इसमें संदेह नहीं कि उसके सारभूत प्रभाव में कवि की लोकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल एवं विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु वह सर्वथा गौण है, और रसनानुभूति के समय उसकी पृथक् सत्ता नहीं होती। अत-एव काव्य के लिए वह चमत्कार, जो केवल हमारी कौतूहली-वृत्ति को शांत करता है। किसी

१. साहित्य दर्पण

प्रकार भी अनिवार्य नहीं हो सकता। काव्य का चमत्कार (जिसकी आचार्यों ने चर्चा की है) जिसके लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रमणीयता की संज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है, वास्तव में हमारे कौतूहल या विस्मय को नहीं जगाता। वह हमारी भाव-वृत्तियों को ही जगाता है। इसलिए वह भाव की [illegible] आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारों के नहीं। वह सहानुभूति या सहजानुभूतिजन्य है, विस्मयजन्य नहीं है। इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति, जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रंथियों के सुलझाने से संबंध रखता है, या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्य-पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र-काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमें भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन में हल्की-से-हल्की भी भाव-तरंग नहीं उत्पन्न करता, वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रंथि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति संभव नहीं है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता। जिसमें भाव का योग है, वही काव्यानन्द दे सकता है। जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान-मात्र है, वह ब द्धिक आनन्द ही देगा। उसमें ऐन्द्रियता का रस नहीं होगा।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये। क्या काव्य अनिवार्यतः उक्ति-चमत्कार के ही आश्रित है? अलंकार के समर्थ पृष्ठपोषक मम्मट ने भी स्पष्ट रूप में 'अनलंकृती पुनः च क्वापि' कह दिया है। विश्वनाथ आदि ने अलंकारों को शोभातिशायी एवं अस्थिर धर्म कहा है। परन्तु इसके विपरीत भामह और कुन्तक ने वक्रता को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। वक्रता से उनका तात्पर्य है, लोकाक्रांतगोचरता या वैदग्ध्यभंगी-भणिति का अर्थात् अभिव्यक्ति की असाधारणता या अनूठेपन का। वास्तव में ये दोनों सिद्धांत ही अपने-अपने ढंग से ठीक हैं। रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलतः भाव के आश्रित है, सर्वथा निर्भ्रांत है, परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा—बिना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह संभव नहीं। भाव के सौंदर्य से उक्ति के सौंदर्य में चमक आप-से-आप आ जायगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि भाव का सौंदर्य और उक्ति का सौंदर्य दो सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में निश्चित पार्थक्य नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार-शरीर भी अनिवार्यतः रमणीय ही होगा। अर्थात् काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवार्य ही है,

परन्तु रमणीय उक्ति—वक्र उक्ति भी स्वभावतः अनिवार्य है, क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए हमें अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ि अलंकारों तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अन्तर्भूत करना होगा।

अलंकार और अलंकार्य का भेद :—संस्कृत-साहित्य-शास्त्र म रस (भाव), वस्तु और अलंकार, तीनों की पृथक् स्थिति मानी गई है। अलंकार रस (भाव) का उपकार करता है—अर्थात् उसको तीव्रतर करता है—और वस्तु के चित्रण में रमणीयता अथवा आकर्षण उत्पन्न करता है—अतएव रस (भाव) और वस्तु दोनों अलंकार्य हुए और अलंकार उनके अलंकरण का साधन। उदाहरण के लिए यदि हम निम्न लिखित दोहे को लें :

छिप्यौ छबीलौ मुंह लसै, झीनै अंचल चीर।
मनहुं कलानिधि झलमलै, कालिन्दी के तीर॥[1]

तो 'झीने नील अंचल में नायिका का मुख अत्यंत सुन्दर लगता है'—यह तथ्य तो है 'वस्तु', नायक के हृदय में उसके प्रति जो आकर्षण अथवा अनुराग उत्पन्न हुआ है वह है भाव (रस), और 'मानो कालिन्दी के जल में कलानिधि झलमला रहा है' यह अप्रस्तुत विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार वस्तु के चित्रण को रमणीय बनाता हुआ भाव को भी रमणीय बना देता है।

संस्कृत का आचार्य अलंकार और अलंकार्य का इस प्रकार पृथक् विवेचन करता है, और पश्चिम का प्राचीन अलंकार-शास्त्र भी इससे सहमत है। परन्तु कला और अभिव्यंजना के नवीन सिद्धांत इससे मेल नहीं खाते। क्रोचे और उसके अनुयायी अभिव्यंजनावादियों ने स्पष्ट शब्दों में अलंकार और अलंकार्य का अन्तर अनर्गल और निराधार माना है: "One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole."[2]

"यह पूछा जा सकता है कि उक्ति (अलंकार्य) में अलंकार का किस प्रकार समावेश किया जा सकता है? बाहर से? तब तो वह फिर सदैव ही उक्ति से पृथक् रहेगा।

1. बिहारी सतसई
2. Expression & Rhetoric Croce

भीतर से ? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जायगा। तब तो वह उक्ति का ही एक मूल तत्त्व होकर उससे सर्वथा अभिन्न बन जायगा।" स्पष्ट शब्दों में इसका आशय यह हुआ कि उक्ति और अलंकार में भेद नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए उपर्युक्त दोहे में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से जो वस्तु, भाव और अलंकार में भेद किया गया है, वह क्रोचे और उसके अनुयायियों को स्वीकार नहीं है। 'झीने अंचल में नायिका का मुख सुन्दर लगता है' यह एक बात हुई—'झीने अंचल में नायिका का मुख ऐसा सुन्दर लगता है, मानो कालिन्दी के जल में चंद्र-बिम्ब झलमला रहा हो' यह दूसरी बात। दोनों उक्तियों की भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। नायिका के इस रूप विशेष को देखकर नायक (या कवि) के हृदय में सौंदर्य की जो रमणीय चेतना हुई वह एक ही रूप में व्यक्त की जा सकती थी—वह चेतना अखंड थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति को भी खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

गिरा और अर्थ की यह अभिन्नता भारतीय आचार्य को अविज्ञात थी, यह बात नहीं। वैयाकरणों ने इस प्रसंग को लेकर काफी चर्चा की है। परन्तु तत्त्व रूप में अभिन्नता मानते हुए भी व्यवहार रूप में फिर भी हमारे यहाँ पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है। वास्तव में इस सिद्धांत का मूल सम्बन्ध अद्वैत दर्शन से है। अद्वैतवादी तत्त्व रूप में प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता मानता है। क्रोचे की भी स्थिति अद्वैतवादी से बहुत भिन्न नहीं है—उसने आत्मा की अद्वैत स्थिति की अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्थापना की है। क्रोचे भी मूलतः दार्शनिक ही है। उसने सौंदर्य-शास्त्र का विवेचन दार्शनिक सिद्धांतों के ही स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु इतना होते हुए भी भारतीय दार्शनिक व्यवहार रूप में प्रकृति और पुरुष में पार्थक्य स्वीकार करता है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' और इसी से प्रभावित होकर भारतीय आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहारगत भिन्नता मानता है, परन्तु इसके विपरीत क्रोचे किसी भी रूप में उसे स्वीकार नहीं करता।—इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनों में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य-शास्त्र वरन् भाव-शास्त्र और विचार-शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य-मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष में हैं कि तत्त्व-दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि से दोनों में भेद मानना अनिवार्य है।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार :—अलंकारों का आधार खोजने की चेष्टा संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से ही मिलती है। आरम्भ में ही भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने उसी की समानार्थक अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारों का प्राण मानते हुए उनके मूलाधार का सफल निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त दण्डी ने एक स्थान पर श्लेष की ओर भी संकेत किया है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति

प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम् ।"[1] उनके उपरान्त दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न रुद्रट का है। जिसने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्ग-विभाजन किया। वास्तव श्रेणी में २३ अलंकार रखे गए हैं जिनमें वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है; औपम्य श्रेणी में २१ अलंकार हैं, जिनका आधार सादृश्य है; अतिशय के अंतर्गत १२ अलंकार हैं जिनमें प्रसिद्धि-बाधी के कारण विपर्यय अथवा अतिलोक्यता का प्राधान्य होता है, श्लेष के अन्तर्गत अनेकार्थकता के चमत्कार पर अवलंबित अलंकारों की गणना है। रुद्रट के उपरांत रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय, गूढ़ार्थ, प्रतिपत्ति और संकर के आधार पर अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया और बाद में विद्याधर एवं विश्वनाथ ने न्याय को तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय, और लोक-न्याय इन तीन अवांतर भेदों में विभाजित करके रुय्यक के वर्गीकरण को ही लगभग ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। विद्यानाथ ने अवश्य इस क्रम को थोड़ा-बहुत विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने औपम्य अथवा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य शब्द को अधिक उपयुक्त माना, और अध्यवसाय एवं विशेषण-वैचित्र्य, ये दो नवीन आधार और आविष्कृत किये।[2] वास्तव में जैसा कि डॉक्टर डे ने कहा है, उपर्युक्त कोई भी वर्गीकरण सर्वथा संगत नहीं है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक है, तो वाक्य-न्याय आदि

---

१. बाद में अभिनव गुप्त ने भी आनन्द वर्द्धन के समकालीन मनोरथ के इस सिद्धांत "नैव वचनैवक्रोक्तिशन्यं च यत्" के प्रति सहमति प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है।—'वक्रोक्ति शून्यशब्देन सर्वालंकाराभावश्च उक्तः।'

२. इधर आधुनिक युग में भी कुछ विद्वानों ने इस ओर रुचि प्रदर्शित की है। सुब्रह्मण्यं शर्मा ने अलंकारों को आठ भागों में विभक्त किया है—१. औपम्यमूलक २. विरोध-मूलक, ३. कार्यकारण-सिद्धान्त-मूलक, ५. अपह्नव-मूलक, ६. शृङ्खला-वैचित्र्य-मूलक, ७. विशेषण-वैचित्र्य-मूलक, और ८. कवि-समय-मूलक।—यह वास्तव में रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर-मात्र है—परन्तु इसको उससे अधिक संगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अपह्नव मूलक, विशेषण-वैचित्र्य-मूलक और कवि-समय-मूलक वर्ग किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है, बाह्य और स्थूल सामान्यता पर ही आश्रित है। दूसरा ब्रजरत्न जी का वर्गीकरण है। उन्होंने रुय्यक के औपम्य, विरोध, शृङ्खला और न्याय को तो ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है, परन्तु गूढ़ार्थ-प्रतिपत्ति को स्वतन्त्र नहीं माना। उसके स्थान पर एक नवीन वर्ग वस्तु-मूलक अलंकारों को मान लिया है जिसके अन्तर्गत उन सभी अलंकारों को जो कि उपर्युक्त चार वर्गों में नहीं आते, रख दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीनता किसी प्रकार भी अपनी उद्भावना को सार्थक नहीं करती।

का आधार सर्वथा काव्य के बाह्य रूप पर आश्रित है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयं अलंकारों का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला है। उनका अधिकार शैली की सीमा को लाँघकर वस्तु तक ही नहीं वरन् न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक फैल गया है। यूरोप के आचार्यों ने भी अलंकारों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने छः आधार माने हैं; साधर्म्य, सम्बन्ध, अन्तर, कल्पना, वक्रता, और ध्वनि (नाद)। उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि को उन्होंने साधर्म्य के आश्रित माना है, अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित, विरोधाभास को वक्रता के, सार को अंतर के, और यमक, अनुप्रास आदि को ध्वनि (नाद) के आश्रित। परन्तु संस्कृत के वर्गीकरण की भाँति यह भी अपूर्ण ही है...उदाहरण के लिए अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित मानना अत्यंत विचित्र लगता है; क्योंकि कल्पना के आश्रित तो सभी अलंकार हैं, इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि (नाद) के आश्रित नहीं है।

स्वभावतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।—अस्तु!

अलंकार की मूल प्रेरणा क्या है; अर्थात् हमारी वाणी किस कारण अलंकृत हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—भावोद्दीपन से। जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी, तो हमारी वाणी भी आप-से-आप उद्दीप्त हो जायगी। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग, और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार से भी हल किया जा सकता है। हमारे अलंकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन और प्रदर्शन में अतिशय का तत्त्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार अलंकृत वाणी (स्पष्ट शब्दों में) अलंकार का मूल रूप अतिशयोक्ति ठहरती है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। वास्तव में जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है भामह ने वक्रता को और दण्डी ने अतिशय की बहुत-कुछ एक-से ही शब्दों में परिभाषा की है। दोनों का तात्पर्य लोकाक्रान्तगोचरता से ही है; इसलिए अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार-सर्वस्व माना जा सकता है।

यह तो मूल प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलंकारों के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त्त आधार निर्धारित कर सकते हैं। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाया जाय कि हम अलंकार का प्रयोग किसलिए करते हैं तो व्यवहार-तल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है: उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। ऐसा करने के लिए हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते हैं; बात को बढ़ा-चढ़ाकर उसके

मन का विस्तार करते हैं, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं बात को घुमा-फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं। अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं; स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त, और अर्थान्तरन्यास-जैसे अलंकार साधर्म्यमूलक हैं; अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर सार, उदात्त, जैसे अलंकार अतिशयमूलक; विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप-जैसे अलंकार वैषम्यमूलक यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति-जैसे अलंकार औचित्यमूलक हैं, पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर, सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकार वक्रतामूलक हैं, और श्लेष, यमक से लेकर मुद्रा और चित्र-जैसे अलंकार चमत्कारमूलक हैं। उपर्युक्त विभाजन में अतिशय, वक्रता और चमत्कार ये तीन ऐसे आधार हैं जो वास्तव में अपने व्यापक रूप में समस्त अलंकारों के मूलवर्ती हैं—परन्तु यहाँ इनका प्रयोग संकीर्ण और विशिष्ट अर्थ में किया है—अतिशय का लंबी-चौड़ी बात करने के अर्थ में, वक्रता का बात को घुमा-फिरा कर कहने के अर्थ में और चमत्कार का बुद्धि-कौतुक के अर्थ में।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र—यूरोप में काव्य के अन्य अंगों की भाँति अलंकार-शास्त्र का जन्म भी यूनान में ही हुआ। यूनानी भाषा में जिस रहटरिक शब्द का प्रयोग होता है उसका वास्तविक अर्थ है भाषण अथवा वक्तृत्व-कला और आरम्भ में इसका उपयोग इसी अर्थ में होता भी था। श्रोता को प्रभावित अथवा अपने मत में करने के लिए जिन विधियों का उपयोग किया जाता था वे सभी अलंकार कहलाती थीं। अरस्तू ने इसे भाषा-शास्त्र की अपेक्षा तर्क-शास्त्र से अधिक सम्बद्ध माना है। धीरे-धीरे मौखिक भाषण से अलंकार का क्षेत्र विस्तृत हो गया, और मौखिक भाषण से लिखित भाषा पर भी उसका अधिकार हो गया।

यूरोपीय अलंकार तीन वर्गों में विभक्त हैं: १—शब्द-विन्यास-सम्बन्धी, २—वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी, ३—अर्थ-विन्यास-सम्बन्धी। इनमें शब्द-विन्यास-सम्बन्धी अलंकारों को संस्कृत के आचार्यों ने व्याकरण के ही अन्तर्गत माना है—व्याकरण में ही उपसर्ग-प्रत्यय वर्ण-विपर्यय आदि का विवेचन मिलता है। वाक्य-रचना-सम्बन्धी कुछ-एक, और अर्थ-सौष्ठव-सम्बन्धी अनेक अलंकार संस्कृत अलंकारों के समानान्तर हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अलंकार केवल शैली के बाह्य उपकरण नहीं हैं—उनका आधार मानव-मनोविज्ञान है, इसलिए, यूनानी, अरबी, संस्कृत सभी भाषाओं

के प्रधान अलंकार समान हैं। साधर्म्यमूलक अलंकारों में अंग्रेजी के सिमिली, मैटाफ़र, हमारे उपमा और रूपक के पर्याय ही हैं—फेबिल, पैरेबिल, और एलीगरी वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं हैं, फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपांतर माना जा सकता है। वैषम्यमूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशय-मूलक अलंकारों के अन्तर्गत हायपरबोल और अतिशयोक्ति में, तथा सार और क्लाइमैक्स में कोई अन्तर नहीं है, वक्रता और आश्रित यूफ़्यूमिज्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुएन्डो गूढ़ोक्ति से भिन्न नहीं है, आयरनी काकु का पर्याय है; और चमत्कार-प्राण अलंकारों में पन, श्लेष और यमक का समकक्ष है। वाक्य-विन्यास वास्तव में भाषा की रचना का बाह्य उपादान है, अतएव उससे संबद्ध अलंकारों में साम्य साधारणतः संभव नहीं है, फिर भी ज्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार शास्त्र में मुख्य अन्तर यह है कि यहां शब्द शक्तियों का अलंकार से पृथक विवेचन मिलता है, वहां अलंकार में ही लक्षणा और व्यंजना को अन्तर्भूत कर लिया गया है। वैसे तो संस्कृत के भी अनेक अलंकारों में लक्षणा का आधार है रूपक; परिकरांकुर और समासोक्ति में तो स्पष्ट रूप से लक्षणा का चमत्कार है फिर भी भाषा के ऐसे कई लाक्षणिक प्रयोग है जिन्हें अंग्रेजी में स्वतंत्र अलंकार माना गया है। परन्तु संस्कृत में वे केवल शब्द शक्ति के रूप ही माने गए हैं, जैसे—मैटोनिमी, जिसमें लिंगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार, कर्ता के लिए कारण का प्रयोग होता है; सिनक्डकी, जिसमें व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अंग के लिए अंगी, अंगी के लिए अंग, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त, और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रयुक्त होता है; हाइपैलेज, जिसमें विशेषण का विपर्यय हो जाता है; या परसोनीफ़िकेशन, जिसमें जड़ वस्तुओं का अथवा गुणों का मानवीकरण कर दिया जाता है। वास्तव में ये चारों न केवल स्वन्त्र अलंकार के गौरव के ही अधिकारी हैं वरन् इन्हें प्रधान अलंकार स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। संस्कृत में जहां अनेक साधारण चमत्कारमूलक अलंकारों की बाल की खाल निकाली गई है, वहां लक्षणा-मूलक इन महत्वपूर्ण अलंकारों का अभाव आश्चर्य की ही बात है। इसी प्रकार विदेश में व्यंग्य को अलंकार माना है, परन्तु हमारे यहां उसे भी शब्द-शक्ति का धर्म माना है। यद्यपि हमारे पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि सभी व्यञ्जना के ही आश्रित हैं, शब्दों की खींचा-तानी से उनको अन्यथा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर अंग्रेजी के अलंकारों की संख्या—वाक्य और शब्द-विन्यास से सम्बद्ध अलंकारों को मिलाकर भी—संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है। इसके अतिरिक्त इनमें सभी अलंकार वास्तव में शुद्ध नहीं कहे जा सकते। शब्द और वाक्य-

विन्यास के आश्रित अलंकार तो अधिकांशतः व्याकरण के प्रयोग हैं ही, अर्थ-विन्यास से सम्बद्ध ऐपीग्राम, फेबिल आदि भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं हैं। वास्तव में यूरोप में अलंकार-शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं हुआ जितना कि हमारे यहाँ, और वैसे प्रकृति से भी वर्ग-विभाजन में भारतीय आचार्यों को पराजित करना विदेश के पण्डितों के लिए सम्भव नहीं था। जैसा कि आज से बहुत पूर्व युग-चेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—"भारती को कुछ नवीन भूषणों से अलंकृत करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही, भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के जमाने के ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं? भारती को क्या नवीनता पसन्द नहीं! न हो तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नये आभूषणों की खोज या कल्पना करने की भी कृपा करें। ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो नहीं सकता।"[1]

अलंकारों की वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उनके परिशोधन का। संस्कृत के अलंकारों में भ्रान्तियाँ काफी हैं—वाणी, न्याय, वस्तु और भाव पर आश्रित अलंकार वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं है। इसी प्रकार बाल की खाल निकालकर अलंकारों में जो सूक्ष्म अवांतर भेद किये गए हैं उनका समीकरण करना भी श्रेयस्कर होगा। अलंकार भाषण की विधियाँ हैं—अतएव उनके मूल में निश्चत मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। उन्हीं के प्रकाश में आज अपने अलंकारों की सम्यक् व्याख्या और उसके साथ ही यथास्थान थोड़ा-बहुत परिवर्तन और परिशोधन करके हम भारती के इस समृद्ध अंग का उचित उपयोग कर सकते हैं।

रसानुभूति में अलंकार का योग:—अब एक प्रश्न शेष रह जाता है 'रसानुभूति में अलंकार किस प्रकार योग देता है?' रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृतियां अन्वित हो जाती हैं। अतएव रसानुभूति में अलंकार का क्या योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होता है। वैसे तो सभी अलंकारों का मूलाधार अतिशय है, जो हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता हुआ बाद में उन्हें पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है। परन्तु जैसा मैंने अन्यत्र कहा है व्यवहार तल पर भी अलंकारों के छः स्पष्ट आधार हैं जो अतिशय गर्भ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न और अपने में स्वतन्त्र हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। साधर्म्यमूलक अलंकार द्वारा मुख्यतः हम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए श्रोता की मनोवृत्तियों को अन्वित

१. 'भारती-भूषण' की प्रस्तावना में उद्धृत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र।

करते हैं—उदाहरण के लिए यदि हम किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं तो, वास्तव में, मुख को देखकर हमारे मन में जो विशिष्ट भाव उठता है उसका हम एक प्रसिद्ध उपमान की सहायता लेकर साधारणीकरण करते हैं। चन्द्रमा एक प्रसिद्ध सौंदर्य-प्रतीक है। उसके दर्शन से मन में कैसा भाव उत्पन्न होता है, इसे हमारे अतिरिक्त अन्य सहृदय व्यक्ति भी पूरी तरह जानते हैं। अतएव हम किसी सुन्दर मुख को चन्द्रमा के समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावना को श्रोता के हृदय में बैठाते हैं। इस प्रकार हमारी उक्ति के प्रभाव को पूर्णतः ग्रहण करके श्रोता की वृत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। साधर्म्यमूलक अलंकार मूलतः इसी तरह सहानुभूति में योग देते हैं। उनमें स्पष्ट रूप से लोकातिशयता तो होती ही है, परन्तु आत्यन्तिक रूप में संगति भी अनिवार्यतः होती है (जहाँ लोकातिशयता असंगत अथवा अप्राकृतिक होगी वहां अलंकार सार्थक नहीं होगा)। अतएव वे अतिशयता के द्वारा पहले मन का विस्तार करते हुए हमारी वृत्तियों को ऊर्जस्वित करते हैं फिर मूलवर्ती संगति के द्वारा उनमें अन्विति स्थापित करने में सहायक होते हैं। एक उदाहरण लीजिये :

> राघव की चतुरंग चमूचय को गने 'केशव' राज समाजनि,
> सूर तुरंगन के उरझैं पग तुंग पताकनि की यह साजनि ॥

राम की सेना के वैभव का कवि के मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसके मन का ओज एक साथ वाणी में फूट पड़ा। 'तुंग-पताकाओं में सूर्य-तुरंगों के पैर उलझ जाते हैं', इस उक्ति में पताकाओं की ऊँचाई की अतिशयता तो स्पष्ट है ही परन्तु उसके आगे उसकी ऊँचाई में मूलवर्तिनी भावना की संगति भी है। इसलिए हम जब इस ऊर्जस्वित वाणी को सुनते हैं तो प्रतिसंवेदन के द्वारा पहले तो हमारे मन में ओज का संचार हो जाता है, जिससे हमारी वृत्तियाँ विस्तृत हो जाती हैं, फिर मूलवर्तिनी संगति के सहारे वे अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। विस्तार के उपरांत यह अन्विति स्वभावतः ही अधिक गहरी होती है। वैषम्यमूलक अलंकारों की रसानुभूति में योग देने की विधि साधर्म्यमूलक अलंकारों के बिलकुल विपरीत है। ये वैषम्य के द्वारा—शब्दगत अथवा अर्थगत निषेध के द्वारा—आश्चर्य-चकित करके वैषम्य में अनुस्यूत साम्य की अर्थात् अनेकता में एकता की, भावना कराते हुए हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होते हैं।

> मीठी लगै अँखियान लुनाई।

उपर्युक्त उक्ति में लुनाई के मीठे लगने में शब्दगत वैषम्य अथवा निषेध है। यही वैषम्य पहले तो एक साथ मन में आश्चर्य पैदा करके हमारी वृत्तियों को विशृंखल कर देता है, परन्तु बाह्य वैषम्य होते हुए भी दोनों में जो आन्तरिक

संगति है वह अन्त में जाकर उद्दीप्त वृत्तियों को अधिक पूर्णता के साथ अन्वित करने में सहायक होती है।

चौथा वर्ग है औचित्यमूलक अलंकारों का—औचित्यमूलक अलंकारों में तो मूलतः ही एक संगति वर्तमान रहती है जो हमारी वृत्तियों को सीधे रूप में ही समन्वित होने में सहायता देती है।

भागीरथी बिगड़ी गति में, अरु तू बिगड़ी गति की है सुधारक।' यहाँ भक्त 'बिगड़ी गति' है और भागीरथी 'बिगड़ी गति की सुधारक' है। इन दो तत्त्वों में संगति स्पष्ट है जो हमारी भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देती है। इसी प्रकार माला तथा एकावली भावनाओं को शृङ्खलित करके और काव्य-लिंग आदि भावगत औचित्य स्थापित करके उक्त उद्देश्य की सिद्धि में योग देते हैं।

वक्रतामूलक अलंकार कार्य-जिज्ञासा को उभारकर पूरा करते हैं। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलंकार गोपन की सहायता से हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। वे हमारी वृत्तियों की गति को थोड़ा रोककर उन्हें तीव्रतर बना देते हैं और फिर वास्तविक अर्थ की संगति द्वारा उनकी अन्विति में सहयोग देते हैं। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध पर्यायोक्ति लीजियेः—'न स संकुचितः पंथा येन बाली हतो गतः'—'जिस मार्ग से बाली यमपुर गया था वह मार्ग संकुचित नहीं हुआ है।' ऐसा कहकर वाल्मीकि यह ध्वनित करना चाहते हैं कि सुग्रीव यदि प्रमाद करता है तो उसको भी बाली पथ का पंथी बनना पड़ेगा। यहाँ वास्तविक अर्थ के गोपन द्वारा हमारी जिज्ञासा उद्दीप्त की गई है। अब रह जाते हैं चमत्कारमूलक अलंकार—इनका चूंकि बुद्धि के व्यायाम से सम्बन्ध अधिक है और नियोजन भी मुख्यतः मस्तिष्क की क्रियाओं के ही आश्रित है अतएव रसानुभूति में इनका योग अत्यन्त न्यून और अप्रत्यक्ष होता है फिर भी बुद्धि और भावना में कोई निश्चित विभाजक रेखा न होने से एक की क्रिया दूसरे को प्रभावित करती ही है। इसी प्रक्रिया से ये अलंकार भी हमारे मन में कौतूहल उत्पन्न करके हमारी वृत्तियों को अधिक जागरूक बना देते हैं और इस प्रकार अपने ढंग से रसानुभूति में योग देते हैं:

'सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ।'[1]

यहाँ सलोना पद श्लिष्ट है—उसके दो अर्थ हैं लावण्ययुक्त और नमकीन। प्रयोग का यह द्व्यर्थक चमत्कार तो सीधा मन में कौतूहल उत्पन्न करके रस में सहायक हो जाता है। परन्तु प्रायः चमत्कारमूलक अलंकारों में बुद्धि की क्रीड़ा और अधिक होती है। जैसे:

---

१. बिहारी-सतसई

लसन सलोने अरु रहे, अति सनेह सों पागि ।
तमक कचाई देत दुख सूरन लौं मुंह लागि ।।[1]

इस दोहे में सूरन की उपमा नायक के साथ दी गई है—और सलोने, सनेह, कचाई, मुंह लागि आदि श्लिष्ट पदों द्वारा उसका निर्वाह किया गया है। "सूरन कच्चा रहने पर मुंह काट लेता है। उसको किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते हैं, और उसे खूब तेल देकर भूंजते हैं, फिर भी भूंजने में वह कच्चा रह गया तो मुंह में लग ही जाता है।" इस दोहे का सौंदर्य श्लेष के ही आश्रित है—और वास्तव में अलंकार-निर्वाह भी बड़ी खूबसूरती के बिना किसी खींच-तान के हुआ है, लेकिन फिर भी चूंकि सूरन और नायक में भावना की अन्विति न होकर केवल बुद्धि की ही अन्विति है, इसलिए रस तक पहुँचने में देर लगती है—और इसीलिए इसका योग दूरारूढ़ ही मानना पड़ेगा। सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी-न-किसी प्रकार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करके उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियां जब अन्वित होती हैं तब स्वभावतः ही इनकी अन्विति में अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है। इसी रूप में अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास:—रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य वामन। उन्होंने ही सबसे पूर्व रीति शब्द का प्रयोग किया और उसे काव्य की आत्मा माना—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। परन्तु, इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे बहुत पहले से चली आ रही थी। दंडी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ में मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड़ दो मार्गों का निर्देश किया है। भामह ने भी वैदर्भ और गौड़ काव्यों के अंतर का सरल शब्दों में निषेध किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में भी किसी-न-किसी रूप में रीति का अस्तित्व था। उधर सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है 'गौड़ लोग अपने शब्दाडंबर के लिए कुख्यात थे।' इसके अतिरिक्त गुणों का विवेचन तो (जिनको कि दंडी और वामन दोनों ने रीति के मूल तत्त्व माना है) अत्यन्त प्राचीन है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में दस गुणों की सम्यक् व्याख्या की गई है। अतएव यही सिद्ध होता है कि रस और अलंकार की भांति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी, जिसको वामन ने एक निश्चित रूपरेखा में बांध दिया।

---

१. बिहारी-सतसई

यदि भरत से ही आरम्भ करें, तो हम देखते हैं कि उन्होंने रीति की ओर तो कहीं भी संकेत नहीं किया, परन्तु गुणों का पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होंने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर, उन्हें दोषाभाव माना है और इस प्रकार दस दोषों के अभाव-रूप गुणों को भी संख्या में दस माना है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद-सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगणा दशैते ॥[1]

भरत का गुण-विवेचन यद्यपि स्थान-स्थान पर अस्पष्ट और संदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओं को दण्डी और वामन ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने शब्द और अर्थगत गुणों का पृथक् निरूपण नहीं किया लेकिन उन्हें इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरांत भामह ने भी रीति को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व मानते हुए वैदर्भ और गौड़ काव्यों के भेद को अनर्गल घोषित किया। भामह में रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग मिलता है: "वक्रोक्ति हीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नहीं है; और उससे परिपुष्ट गौड़ काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है।" गुणों की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है। उन्होंने उनकी संख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य, ओज और प्रसाद। बाद में ध्वनि-वादियों ने भामह के तीन गुणों को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलंकारवादी थे, परन्तु उन्होंने गुणों को अलंकारों से अधिक महत्त्व दिया है। वास्तव में उन्होंने गुणों और अलंकारों में स्पष्ट भेद नहीं किया है। गुण और अलंकार दोनों ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म हैं—गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते हैं, अलंकार सत् और असत् दोनों प्रकार के काव्यों में मिल सकते हैं। वैदर्भ काव्य, जिसमें समस्त गुणों का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौड़ काव्य इसके विपरीत है, उसमें गुणों का विपर्यय मिलता है :

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥[2]

दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन शब्द का प्रयोग किया है—उन्होंने मार्गों की संख्या दो और गुणों की दस मानी है। गुणों की गणना और नामकरण में भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या में दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कांतिगुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और

---

१. नाटय-शास्त्र
२. काव्यादर्श

अर्थगत गुणों का पार्थक्य नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता और ओजस् शब्द के आश्रित हैं, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कांति, उदारता और समाधि अर्थ के माधुर्य में दोनों का आधार है। दोषों का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने भी भामह के ग्याहरवें दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषों की संख्या दस स्वीकार की है। इतना होते हुए भी, दण्डी के विवेचन में अपने दोष हैं। उदाहरणार्थ अर्थ व्यक्ति प्रसाद के अंतर्गत आ सकता है, उदारत्व और कांति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट हैं, उनमें जिस भावगत सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरांत वामन ने रीति और गुणों का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय को असंदिग्ध रूप में प्रतिष्ठा कर दी। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार की : वैदर्भी गौड़ी, पाञ्चाली। वैदर्भी में दसों गुणों का समावेश रहता है, गौड़ी में ओज और कांति का, पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण दो भागों में विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए वामन का ओजस् दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ-गुण कांति में रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्वों में परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारों में ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अंग नहीं माना।

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने हैं परन्तु भरत की भाँति उन्होंने गुणों को दोषाभाव न मानकर दोषों को गुणों का विपर्यय माना है, और उनका पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष, और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदों में विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमाएँ भी हैं—उनकी कतिपय परिभाषाएँ अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभक्त करना ही अधिक संगत नहीं है स्थान स्थान पर इसके लिए उन्हें खींच-तान करनी पड़ी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट हैं—जैसे उनका शब्द-गुण प्रसाद केवल ओजस् का निषेध-मात्र है और उदारता ग्रामत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतंत्र गुण ही नहीं माना, क्योंकि वह ओजस् का केवल एक भेद-मात्र है। उनके कई गुण तो केवल अलंकार ही रह गए हैं। इस प्रकार वामन के विवेचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यों ने अनेक आक्षेप किये हैं। परन्तु इन साधारण आक्षेपों के होते हुए भी संस्कृत अलंकार-शास्त्र में वामन का गौरव कम नहीं होता। काव्य के बाह्य रूप की महत्ता को असंदिग्ध

शब्दों में स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य का अपना पृथक् स्थान रहेगा। काव्य-शोभा अथवा सौंदर्य का वस्तुगत विवेचन उनका सर्वथा पूर्ण है।

वामन के उपरांत रुद्रट ने एक चौथी रीति—लाटी का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदों का प्रयोग विशेष ही है। आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है, अतएव स्वभाव से ही उन्होंने रीति को स्वतन्त्र महत्त्व नहीं दिया। आनन्दवर्द्धन ने उसे काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है। उनका महत्त्व इसी पर निर्भर है कि वे रस-परिपाक में कहाँ तक योग देती हैं। अभिनव एक पग और आगे बढ़ गए हैं, उन्होंने गुण और अलंकार से पृथक् रीति का अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। हाँ, गुणों को ध्वनिवादियों ने वांछित महत्त्व दिया है, उनको रस का तत्त्व मानते हुए काव्य का नित्य अङ्ग माना है। गुणों की संख्या इन्होंने दस से घटाकर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है—माधुर्य, ओज और प्रसाद, जो क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित हैं। कुंतक ने भी रीति-विभाजन का तीव्र शब्दों में विरोध किया। उन्होंने कहा—देश के अनुसार काव्य-रीति का विभाजन असंगत है। इस प्रकार तो असंख्य रीतियां माननी पड़ेंगी, और न रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है, क्योंकि काव्य तो कवि-प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह सबसे उत्तम होगी—उसमें उत्तम, मध्यम और अधम के लिए स्थान नहीं है। रीति के स्थान पर कुंतक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि-प्रस्थान हेतु अर्थात् कवि-कर्म का ढंग माना है। मार्गों को उन्होंने देश भेद के अनुसार विभाजित न करके रचना-गुण के अनुसार दो भेदों में विभाजित किया है: सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणों की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होंने दोनों मार्गों के तत्त्व रूप चार गुण माने हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। यों तो चारों गुण दोनों ही मार्गों के मूल तत्त्व हैं परन्तु उनका स्वरूप दोनों में भिन्न है। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण हैं जो सभी प्रकार के काव्यों में वर्तमान होने चाहिएँ। कुंतक ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होंने बाह्य उपादानों को अधिक महत्त्व नहीं दिया, स्वभावतः उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुंतक के उपरांत भोज ने मागधी और अवंतिका दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत

कुछ समस्त पदों के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होंने वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड-रीति की संज्ञा दी है उसमें संगीत का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणों और दोषों के विवेचन में भी उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नहीं हैं उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नहीं मिलती। उदाहरण के लिए उनकी रीति-विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक हैं।

भोज के परवर्ती आचार्यों ने मौलिक सिद्धांतों की कोई विशेष सृष्टि नहीं की, वे प्रायः व्याख्याता ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों से एकरूप कर दिया है: वैदर्भी और उपनागरिका एक हैं, परुषा और गौड़ी एक है, पांचाली और कोमला एक हैं। इनमें पहली दोनों माधुर्य-व्यंजक वर्णों के आश्रित हैं, दूसरी ओज-व्यंजक वर्णों के, तीसरी में ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो इन दोनों से भिन्न हैं। मम्मट का विवेचन बहुत-कुछ आनन्दवर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्हीं के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणों की संख्या केवल तीन ही मानी है—और वामन-कृत दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणों को या तो इन तीनों में ही अंतर्भूत कर दिया है, या फिर दोषभाव कहकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार नहीं दिया है। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति को अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्यों में केवल विश्वनाथ ने ही रीति का रस और गुण के सम्बन्ध से व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के अनुसार चार रीतियाँ मानी हैं और उनका आधार समस्त-पद-प्रयोगों को न मानकर स्पष्ट रूप से वर्णों के संगुंफन को ही माना है। वैदर्भी, जो माधुर्य से सम्बद्ध है, शृङ्गार, करुण और शांत के उपयुक्त है, और गौड़ी, जिसका सम्बन्ध ओज से है वीर, वीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पड़ती है। पांचाली की परिभाषा उन्होंने बहुत-कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नहीं हो सकी। उनकी लाटिका रीति में भी वैदर्भी और पांचाली की ही विशेषताएँ हैं, अतएव उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानना व्यर्थ है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के बाह्य रूप को एक बार फिर गौरव के साथ आगे लाने का प्रयत्न किया, और गुण आदि का विस्तृत विवेचन भी किया। परन्तु कुल मिलाकर वे भी इस क्षेत्र में आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र उद्भावना नहीं कर सके। रीति की परम्परा, जो कि संस्कृत में भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाई थी, अन्त में स्वभावतः ही उसी के साथ निःशेष हो गई। हिन्दी के आचार्यों ने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति के उद्भावक वामन ने रीति को विशिष्ट पद-रचना कहा है--"विशिष्टा पद-रचना रीतिः", और पद-रचना के वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर आश्रित माना है; 'विशेषो गुणात्मा'। गुण का अर्थ उन्हीं के शब्दों में है काव्य को शोभित करने वाले धर्म। गुण नित्य धर्म है अलंकार अनित्य, क्योंकि केवल गुण तो वैशिष्ट्य की सृष्टि कर सकते है, केवल अलंकार नहीं। काव्य का समस्त सौंदर्य रीति पर आश्रित है। यह सौंदर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है ? दोषों के बहिष्कार एव अलंकारों के प्रयोग से। तो, इस प्रकार वामन के अनुसार रीति पद-रचना का वह प्रकार है जो दोषों से मुक्त हो, एवं गुणों से अनिवार्यतः तथा अलंकारों से साधारणतः सम्पन्न हो।

वामन के उपरांत कुंतक ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु, अर्थात् कवि-कर्म की विधि कहा है, और भोज ने भी उसका अर्थ काव्य-मार्ग किया है। आनन्दवर्द्धन न अपने आशय को थोडा और स्पष्ट करते हुए उसको वाक्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है---उनके अनुसार रीति वह विधि है, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द-अर्थ में चारुता आती है। आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोड़कर उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रखा है जो वास्तव में उचित है, क्योंकि काव्य केवल पद-रचना के ही आश्रित नहीं है। बाद में मम्मट और विश्वनाथ ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए रीति-विवेचन को सर्वथा निर्भ्रान्ति बना दिया है। 'पद संघटना रीतिरंग संस्थानवत्'। इस प्रकार आप देखें कि साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ रीति के गौरव मे तो आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है---वह आत्मा से अंग-मात्र रह गई है, परन्तु उसकी परिभाषा आदि से अन्त तक लगभग वही रही है।

बहुत-कुछ अंग्रेजी के अठारहवीं शती के कवियों की भाँति रीतिवादियों का भी दृष्टिकोण वस्तुगत था। उन्हीं की तरह ये भी काव्य-सौंदर्य को भाव के आश्रित न मानकर भाषा के ही आश्रित मानते थे। वामन का यह विश्वास था कि समस्त पदों के कुशल प्रयोग, एवं शब्दों तथा वर्णों के चारु चयन के द्वारा अथवा भावों का क्रम बाँधने या उनको सजाकर रखने से ही प्रायः काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अतएव वे उन्हीं को आधार मानकर काव्य के बाह्य रूप का वस्तुगत विश्लेषण करते रहे। परन्तु काव्य के भाव पक्ष अथवा आंतरिक पक्ष से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अर्थ-गुण-कान्ति में रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है। इसी प्रकार उनके अर्थ-गुण-सौकुमार्य और उदारता भी भाव-सौन्दर्य से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थ-गुणों को शब्द-गुणों के बराबर ही महत्व देना

भी तो इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रकार वामन की रीति में आन्तरिक तत्त्व का सर्वथा अभाव मानना तो भ्रामक है। क्योंकि उन्होंने अर्थ और वाणी के सामञ्जस्य को पूर्णतः स्वीकार किया है; पर हाँ, वैयक्तिक तत्त्व को उसमें कदाचित् उतनी प्रधानता नहीं दी गई जितनी कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की 'शैली' में दी गई है। भारतीय काव्य-शास्त्र की रीति का सम्बन्ध कला से जितना घनिष्ठ है उतना कवि-व्यक्तित्व से नहीं। परन्तु फिर भी डॉक्टर डे आदि की यह प्रस्थापना पूर्णतः सत्य नहीं है कि भारतीय रीति सर्वथा निर्वैयक्तिक रचना-कौशल है, अतएव वह पाश्चात्य 'शैली से एकांत भिन्न है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अनेक स्थानों पर रीति और कवि-व्यक्तित्व के अंतरंग सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। उदाहरण के लिए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि वैदर्भ और गौडीय मार्ग तो काव्य के दो स्थूल भेद-मात्र हैं। वैसे तो वाणी के कवियों के अपने-अपने व्यक्तित्वों के अनुसार अनेक सूक्ष्म भेद हैं जिनका वर्णन संभव नहीं है:

> अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
> तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥
> × × ×
> इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूप-निरूपणात् ।
> तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥[1]

उनके उपरांत शरदातनय आदि ने भी इसका समर्थन किया 'पुंसि-पुंसि विशेषेण कापि-कापि सरस्वती' और उधर अनेक कवियों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होनी अनिवार्य है।

उधर पश्चिम में भी शैली का वस्तु-विवेचन काफी हुआ है। सबसे पूर्व तो आचार्य अरस्तू ने ही शैली के बाह्य रूप का व्यापक विवेचन करते हुए उसके दो भेद किये हैं: वाद शैली और साहित्य शैली।[2] उन्होंने शैली के दो मूल गुण माने हैं: (अ) पर्सपिक्युइटी (आ) प्रोप्राइटी। पर्सपिक्युइटी का अर्थ है प्रसाद और प्रोप्राइटी का औचित्य। ये दोनों ही गुण भारतीय काव्य-शास्त्र में स्वीकृत हैं। प्रसाद तो पृथक् गुण ही है, औचित्य का कुंतक के अतिरिक्त किसी ने पृथक् निर्देश नहीं किया, किन्तु नाम भेद से उसे वामन आदि सभी ने स्वीकार किया है। तथापि औचित्य वास्तव में विशेष गुण न होकर काव्य का सामान्य गुण ही है, क्योंकि इसके अभाव में काव्य काव्य ही नहीं रह जाता और इस दृष्टि से कुंतक का मत ही अधिक मान्य है जिन्होंने कि

---

१ काव्यादर्श—१.

२. Controversial and literary.

इसे रीति का सामान्य अनिवार्य गुण ही माना है। अरस्तू के उपरान्त शैली पर डिमेट्रियस का 'ऑन स्टाइल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है। डिमेट्रियस ने शैली के चार भेद किये है: ऐलीगेण्ट (सुन्दर), प्लेन (प्रसादयुक्त), फोर्सिबिल (ओजस्वी), और एलिवेटेड (उदात्त)। इनमें से प्रथम तीन तो भारतीय काव्य-शास्त्र की क्रमश: माधुर्य, प्रसाद और ओजयुक्त शैलियो से अभिन्न ही है। हाँ एलिवेटेड (उदात्त) थोड़ी भिन्न है---परन्तु उसका कारण यह है कि विदेश मे सब्लाइम का आरम्भ मे ही पृथक् विवेचन है जब कि हमारे यहाँ उसे ओज में भी अन्तर्भूत कर लिया गया है।

यूनानी आचार्यों के उपरांत रोम के और उनके उपरान्त फ्रास, इग्लैड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-रूप का सम्यक् विवेचन किया है। इन अलंकारिकों के विवेचन के सार रूप पश्चिम मे शैली के तीन पक्ष माने गए हैं---बुद्धि-पक्ष, राग-पक्ष और कला-पक्ष। बुद्धि-पक्ष के अतर्गत आते है (अ) यथातथ्यता अर्थात् उचित शब्द का उचित प्रयोग, (आ) स्पष्टता अर्थात् इन उचित शब्दो को वाक्य-सघटन मे उचित स्थान पर क्रमपूर्वक रखना, (इ) औचित्य-अर्थात् वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य---सगति, अन्विति इत्यादि। राग-पक्ष से आशय ओज, तीव्रता, ध्वन्यात्मकता अथवा उन तत्त्वो से है जिनके द्वारा कवि न केवल अपने विचारों को ही, वरन् अपने भावों और उद्वेगों को भी पाठक तक प्रेषित करता हुआ, उसके हृदय मे भी सदृश भावों और उद्वेगो का सचार करने में समर्थ होता है। तीसरा है कला पक्ष, जिसके अंतर्गत संगीत, गति, लय, नाद-सौन्दर्य आदि की गणना है जो अर्थ से स्वतन्त्र होकर भी मन को आह्लादित करते है।

आप देखे कि उपर्युक्त तत्त्व-विश्लेषण वामन आदि के तत्त्व-विश्लेषण से बहुत भिन्न नही है। वामन के श्लेष (जिसमे शब्द और अर्थ की पूर्ण मैत्री के द्वारा अभिव्यक्ति मे यथातथ्यता रहती है) प्रसाद---(जिसमे सरल प्रचलित शब्दों के निर्भ्रान्त प्रयोग द्वारा आशय की स्पष्टता रहती है) समाधि---(जिसमें अर्थ की एकाग्रता होती है) समता---(जिसमे सगति होती है) आदि बुद्धि-पक्ष के तत्त्व हैं। सौकुमार्य---(जिसमे अप्रिय तथ्य भी प्रिय शब्दो मे कहा जाता है) उदारता---(जिसमे भावभगिमा में अग्राम्यत्व रहता है) कांति---(जो रस से दीप्त होता है) आदि अर्थ-गुण राग पक्ष के तत्त्व है। इसी प्रकार कतिपय शब्द-गुण जैसे ओज---(जिसमे पदों का गाढ़-बन्धत्व रहता है), माधुर्य---(जिसम पद पृथक् और श्रुति मधुर होते हैं), सौकुमार्य---(जो परुष वर्णों से मुक्त होता है), उदारता---(जिसमे पद नृत्य-सा करते है) और कांति---(जिसमें पद-औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है) कला-पक्ष के तत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि यह विवेचन सर्वथा पूर्ण नहीं है, परन्तु जहाँ कहीं भी जीवन

के तत्वों का बाह्य तथ्यों के वर्गीकरण द्वारा विवेचन किया जायगा, वहाँ पूर्णता की आशा करना व्यर्थ होगा। रीति या शैली अपने वास्तविक रूप में मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित बाह्य तथ्यों में बाँधना उतना ही कठिन है जितना मनोविकारों को, इस क्षेत्र में तो विवेचन की एक दिशा का ही निर्देश किया जा सकता है—इस दृष्टि से वामन की सफलता पश्चिमी आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्तुत्य है।

अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्त्व। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं: एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना, दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। पहला रूप, जैसा मैंने अभी कहा है, भारतीय रीति-विभाग से सर्वथा बहिष्कृत नहीं है, यद्यपि उसे वांछित महत्व नहीं मिला, और इसका स्पष्ट कारण यही है कि भारत में साहित्य को निर्वैयक्तिक साधना के रूप में ही प्रायः ग्रहण किया गया है। दूसरे रूप का विधान तो निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु वामन से पूर्व भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि नाटक में भाषा पात्र के शील-स्वभाव की ही अनुवर्तिनी होनी चाहिए। वामन के उपरान्त मम्मट ने भी वक्ता और विषय के अनुसार रीति में परिवर्तन करना उचित और आवश्यक माना है।

सारांश यह है कि रीति-सम्प्रदाय ने काव्य के बाह्य पक्ष—रचना-चमत्कार को विशेष महत्त्व दिया है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह भी सत्य है कि उसके मानस पक्ष की भी उपेक्षा इसमें नहीं की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को वांछित महत्व नहीं मिला, यद्यपि बहिष्कार उसका भी नहीं हुआ।

रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध

जहाँ तक वामन की रीति का प्रश्न है, स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना-चमत्कार, जो गुणों पर आश्रित रहता है। गुण, काव्य के वे नित्य धर्म हैं जो उसको सुशोभित करते हैं। दोष गुणों के विपर्यय हैं; अतएव वे काव्य की शोभा में बाधक होते हैं। गुणों के प्रयोग और दोषों के बहिष्कार से रचना में सौन्दर्य आता है। रचना का यही सौन्दर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी में निहित रहता है, वह इसका साध्य नहीं साधक है।

परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। ध्वनि और रसवादियों ने चित्र बदल दिया। रीति आत्मा न रहकर अंग-संस्थान-मात्र रह गई। रस उसका एक तत्व नहीं रहा। वह स्वयं रस की उपकर्त्री समझी गई। इसी प्रकार गुण भी उसके उपादान तत्व नहीं रहे। वह स्वयं उनका माध्यम बन गई। इन लोगों के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है; जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाती है।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति :—अब एक प्रश्न शेष है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? आनन्दवर्द्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृङ्गार, रौद्र आदि रसों में, जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न है अथवा उनमें कारण-कार्य-सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है, वही माधुर्य है; वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है; और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा कम-से-कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूँकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव को स्थान नहीं रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हे चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व-रूप आह्लाद को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।"[1]

---

१. 'साहित्य दर्पण'—विमला टीका।

इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस में ही अभिन्न मान लिया है।

वास्तव में जैसा कि डॉ० लाहिरी ने कहा है, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। यदि विश्वनाथ के अनुसार उसे रस से अभिन्न आस्वाद रूप ही मानते हैं तो प्रश्न उठता है कि उसकी पृथक् स्थिति क्यों मानी जाय ? इसलिए विश्वनाथ का सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनन्द रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण करके हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण करके हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्व निःशेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

दोष की स्थिति:—दोषों को रस का 'अपकर्षक', 'मुख्यार्थ में बाधक' आदि कहा गया है। भरत ने उन्हें भावमूलक (Positive) मानते हुए गुणों को अभावमूलक (Negative) माना है। दण्डी ने भी उन्हें भावमूलक ही माना है, परन्तु वामन ने उन्हें गुणों का विपर्यय कहा है। परवर्ती आचार्यों ने भी उनकी भावमूलक स्थिति ही स्वीकार की है, और यह उचित ही है, क्योंकि कातरत्व आदि दोष की स्थिति भावमूलक ही है। सुनयनत्व आदि गुणों का अभाव रूप नहीं है। गुण का अभाव निर्गुणत्व है,

दोष नही। दोषो की सख्या दस से आरम्भ होकर सत्तर तक पहुँच गई है। उनका विभाजन साधारणतः पाँच वर्गों में किया जाता है—पद-दोष, पदांश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। तत्त्व-रूप में सभी दोषों का रस-हानि से सम्बन्ध है और जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते है या (२) रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते है या (३) रसास्वाद मे विलम्ब उपस्थित कर देते है। और गहरे मे जायँ तो हम देखते है कि समस्त दोषो का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य मे यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य, जो शब्द और अर्थ के सामजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य, जो पदो की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है; तीसरा बौद्धिक औचित्य, जो हमारी ज्ञान वृत्तियो के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना विषयक औचित्य, जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति मे सम्बन्ध है। यह औचित्य जहाँ कहीं खण्डित हो जाता है वहीं दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषो का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते है। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषो की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषो की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमे पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) संवेदन और मानसिक संवेदन में असामञ्जस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण मे बाधक होकर बौद्धिक सवेदनो को विशृङ्खल करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप मे ही हमारी चित्त-वृत्तियों की अन्विति मे बाधक होते हुए रस का अपकर्ष करते है। श्रुति-कटुत्वादि मे विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है; न्यूनपद, कष्टार्थ आदि मे मानसिक चित्र अत्यन्त धुँधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस-दोषों में दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रों का एक दूसरे पर आरोप होने मे भाव-चित्र पूरा नही हो पाता।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हुए जिन्होंने ध्वनि को नहीं वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नही था, परन्तु उन्होंने उसकी पृथक् सत्ता न मानकर उसे

वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना। वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। 'कादम्बरी' में इसका प्रयोग परिहास-जल्पित के अर्थ में हुआ है। भामह ने इसका अर्थ 'इष्टावाचामलंकृति' अर्थात् 'अर्थ और शब्द का वैचित्र्य' करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपर्यय रूप में ग्रहण करते हुए उसे श्लेष-पोषित माना है। सारांश यह है कि भामह और दण्डी दोनों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र (असाधारण) शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है—शब्दस्य ही वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।[1]

परवर्ती आचार्यों मे रुद्रट आदि प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है, केवल एक वामन ने अर्थालंकार माना है। कुतंक ने इन सभी का निषेध करते हुए वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार मानने से इन्कार किया तथा अन्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दो में उसे काव्य का जीवन माना है। कुंतक काव्य को आह्लादकारी सालंकार शब्दार्थ का साहित्य (सहित भाव) मानकर चले है।

वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होंने की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति अर्थात्; कथन की विचित्रता. जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोति की इस व्यापक परिभाषा में उन्होंने शब्दालंकार अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया, और उसे छः भागों में विभक्त किया, जो वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। वक्रोक्ति की परिभाषा और महत्त्व का संकेत कुंतक को भामह में मिला और कवि-प्रतिभा का भट्ट-तौत में। कुंतक के परवर्ती आचार्यों ने इस नवीन महिमा-मण्डित वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना। अतएव वक्रोक्ति-सम्प्रदाय कुंतक से प्रारम्भ होकर उन्हीं के बाद समाप्त हो गया। वास्तव में जैसा कि काणे आदि विद्वानों ने कहा है, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुंतक ने अलंकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।

वक्रोक्ति का स्वरूप:—वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए हमे स्वभावतः कुंतक ही की व्याख्या का आश्रय लेना चाहिए।

कुंतक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है विचित्र विन्यास-क्रम, जो एक ओर शास्त्र आदि में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी ओर व्यवहारगत साधारण भाषा-प्रयोग से; इसीलिए उन्होंने वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है। वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वत्ता से भिन्न काव्य-नैपुण्य के अर्थ में बहुत पहले से चला आता था, भंगी-भणिति से तात्पर्य था भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय

१. अभिनव

प्रयोग, दूसरे शब्दों में उक्ति-चारुत्व । वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है । अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय ही कवि-प्रतिभा-जन्य ही होता है। कवि-प्रतिभा एवं कवि-व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नहीं है । यह कवि-व्यापार क्या है इस विषय में कुन्तक मौन हैं। क्योंकि शायद इसे वे अनिवर्चनीय मानते है। कुन्तक की वक्रता एक पृथक् उक्ति में ही सीमित न रहकर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक प्रसारित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होंने वक्रोक्ति अथवा कवि-व्यापार-वक्रता के छः भेद माने हैं—१. वर्ण-विन्यास-वक्रता, २ पद-पूर्वार्ध-वक्रता, ३. पद-परार्ध अथवा प्रत्यय-वक्रता ४ वाक्य-वक्रता ५. प्रकरण-वक्रता और ६. प्रबन्ध-वक्रता । वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत यमक-जैसे शब्दालंकार और उपनागरिकना आदि वृत्तियों का नाद-सौन्दर्य आता है। पद-पूर्वार्ध के अनेक भेद किये गए है, जिनमें प्रमुख है–(क) रूढ़ि-वक्रता (इसमें शब्द का साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ़ अर्थ में प्रयोग होता है; रूढ़ लक्षणा के प्रयोग प्रायः इसके अंतर्गत आते है), (ख) पर्याय-वक्रता (इसके अंतर्गत पद-गत औज्ज्वल्य एवं पद-चयन की गणना होती हैं।), (ग) विशेषणवक्रता (यहाँ विशेषण, कारक, क्रिया आदि का चारु-प्रयोग होता है। साधारणतः पृथक् पद-गत सौन्दर्य इसके अन्तर्गत आता है)। प्रत्यय-वक्रता में वैचित्र्य प्रत्यय के वक्र-प्रयोग के आश्रित होता है। हिन्दी में यह प्रायः अव्यवहार्य ही है। वाक्य-वक्रता में अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है–सूक्ति आदि नवीन वाक्य-भंगिमाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनका सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध-रचना से है। इनमे प्रकरण-वक्रता से तात्पर्य उन स्वतन्त्र उद्भावनाओं का है जिनके द्वारा कवि मूल कथा मे रमणीयता उत्पन्न करता है; और प्रबन्ध-वक्रता से तात्पर्य समस्त कथा के प्रबन्ध-कौशल का है। यहाँ मूल कथा को कवि अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। प्रकरण-वक्रता प्रकरण विशेष से सम्बद्ध है, 'शाकुन्तलम्' मे दुर्वासा-शाप प्रकरण की उद्भावना इसका उदाहरण है। प्रबन्ध-वक्रता का सम्बन्ध समस्त कथा के घटना-विधान से है, जैसा कि 'रामायण' तथा 'महाभारत' में मिलता है, अथवा 'किरातार्जुनीयम्' में, जहाँ किसी प्रसिद्ध कथा की एक घटना पर दूसरा ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है। प्रबन्ध-वक्रता में रसोत्कर्ष का भी बहुत महत्व माना गया है। इस प्रकार कुंतक ने वक्रोक्ति को समस्त कवि-व्यापार या कौशल से एक रूप करके देखा है ।

इस विवेचन से निम्न लिखित निष्कर्ष निकलते है—

१. वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य अनिवार्य है। उसमें किसी-न-किसी प्रकार की असाधारणता आवश्य होनी चाहिए।

२. वक्रोक्ति की इस परिभाषा में प्रायः सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। सिद्धांत रूप से यद्यपि कुंतक ने स्वभावोक्ति में काव्यत्व का निषेध किया है, परन्तु व्यवहार-

रूप में वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वस्तुओं के स्वभाव का सफल अंकन प्रायः बाह्य अलकारो से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी होता है। परन्तु वे इस बात पर बल देते है कि वस्तु (स्वभाव) के तत्त्वों का चयन साधारण दृष्टि मे न होकर कवि-दृष्टि मे ही होना चाहिए। अर्थात् यह वर्णन वस्तु-परिगणन-मात्र न होकर कवि-व्यापार-जन्य होना चाहिए। मै समझता हूँ स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलकार और काव्य के अन्तर्गत मानने वाले पडितों को भी इस परिभाषा में कोई आपत्ति नही हो सकती; क्योकि लगभग सभी ने साधारण वस्तु-परिगणन का तिरस्कार करते हुए उसमें कवि-कौशल को ही अनिवार्य माना है।

३. सिद्धात रूप मे ध्वनि-रसवादियो मे कुतक का एक मतभेद है । ध्वनिवादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत मानते है। कुतक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं और ध्वनि तथा रस से रहित भी वक्रोक्ति एव तदनुसार काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करते है परन्तु यदि आप गहराई मे जाकर देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद भी केवल सिद्धान्त का है व्यवहार का नही––व्यवहार मे वक्रोक्ति और ध्वनि को एक दूसरे से सर्वथा रहित नही पाया जाता, क्योकि इन दोनो की अपनी-अपनी परिभाषाएँ इतनी लोक-व्यापक है कि किसी का भी कोई रूप दूसरे से बाहर नही पड सकता। वास्तव मे कुंतक की वक्रोक्ति अतिव्याप्त तो अवश्य मानी जा सकती है , परन्तु अव्याप्त नही, अर्थात् विश्लेषण करने पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसमे काव्यत्व तो असदिग्ध हो परन्तु कुतक की वक्रोक्ति या वक्रता न हो। कारण स्पष्ट है––जहाँ रसत्व है वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यतः वर्तमान होगा, और जहाँ कवि-व्यापार होगा वहाँ वक्रोक्ति का अभाव कैसे हो सकता है? इसी दृष्टि से कुंतक ने रस को पूर्ण महत्त्व दिया है।

कुन्तक मे अब एक शब्द रह जाता है जो आज के आलोचक की समझ में नहीं आता––कवि-व्यापार। उन्होंने कवि-व्यापार को विधि-व्यापार की भाँति व्याख्यातीत मानते हुए उसकी परिभाषा तो नही की परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया है। कवि-व्यापार के तीन विभाग है––शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम है क्रमशः सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग। इन मार्गों के आधार है गुण, जिनमें माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य को हम विशेष गुण कह सकते है; तथा औचित्य और सौभाग्य को सामान्य गुण। इस प्रकार कुन्तक ने (रीति सिद्धांत को भी अन्तर्भूत करते हुए) कवि-व्यापार के बाह्य रूप का वर्णन तो किया है परन्तु उसके आंतरिक स्वरूप की व्याख्या नहीं की। वास्तव में भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार वे भी कवि को एक असाधारण (Abnormal) व्यक्ति समझते थे और कवि-प्रतिभा को जन्मांतर-गत पुण्यों के फल-स्वरूप प्राप्त एक दैवीत शक्ति।

विवेचन—कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धांत यद्यपि स्वीकार्य नहीं हुआ परन्तु फिर भी उसका तिरस्कार इतनी सरलता से नहीं हो सकता जितनी सरलता से कि आचार्य शुक्ल ने कर दिया है। उसके दो पक्ष हैं—१. प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है २. प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्यतः होती है। इनमें से पहला पक्ष तो आज मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार तो ऐसी उक्तियों को भी, जिनमें साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता वर्तमान रहती है, काव्य मानना पड़ेगा। किसी प्रकार का भी बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता प्रदान तो सदैव कर सकता है परन्तु उसे सरस सदैव नहीं बना सकता। इसीलिए तो बाद के रसवादियो ने चित्र-काव्य को काव्य की सीमा से बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि ध्वनिकार ने उसे अधम काव्य की पदवी अवश्य दे दी थी। अतएव कम-से-कम ऐसी वक्रता को, जिसका रस से दूर का भी सम्बन्ध न हो, काव्य नहीं माना जा सकता। वक्रोक्ति सिद्धांत का दूसरा पक्ष है कि प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्यतः होगी। यह पक्ष बाह्यतः अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी, वक्रता का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असगत नहीं कहा जा सकता। इधर तो वक्रता मे कुन्तक ने (बात को घुमा-फिराकर कहने को ही नहीं) सभी प्रकार के वैचित्र्य-वैशिष्ट्य अथवा असाधारणत्व को अन्तर्भूत कर लिया है, और उधर यह एक स्वतः-स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य है प्रत्येक भाव-दीप्त या रस-दीप्त उक्ति साधारण इतिवृत्तात्मक कथन की अपेक्षा कुछ विशिष्टता या विचित्रता अवश्य लिये होगी। हिन्दी के एक विद्वान् का कथन है कि इस वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और इस वक्रता में तीव्रता के लिए स्थान नहीं है। परन्तु यह असत्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कुन्तक ने स्वभावोक्ति के केवल इतिवृत्त-वर्णन रूप को ही अस्वीकृत किया है। उनकी वक्रता का इतिवृत्तात्मकता से ही विरोध है तीव्रता से नहीं; क्योंकि उन्होंने रस को निश्चय ही वक्रोक्ति के उपादान तत्वों मे से माना है। उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है अतः तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई ।

कुन्तक से हमें केवल क्रम-विषयक मतभेद हो सकता है। उनका मत है कि काव्य का आह्लाद (रस) उक्ति-वक्रताजन्य है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति में वक्रता आती है। अपने उद्दीप्त मनोविकारों का भावन करने में कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति मे वक्रता आ जाती है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन रस-प्रसंग में हो चुका है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा; वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नहीं हो सकती। कुन्तक धुर मूल तक न पहुँचकर उससे एक मंजिल पहले ही रुक गए हैं।

और उसी को आखिरी मंजिल मान बैठे है—उनके सिद्धांत का यही दोष है। पश्चि-मीय आलोचना की शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना-तत्त्व को भाव-तत्त्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है—वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जो इतना बल दिया गया है वह वास्तव में कल्पना-तत्त्व को ही महत्त्व दिया गया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद :—कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को **वक्रोक्तिवाद** का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्लजी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थवाद के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं; इससे आगे नहीं। क्योंकि इन दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धांत स्पष्ट हो जाना चाहिए।

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक है, जिसने अपने ढग से उन्नीसवी शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियाएँ मानता है, एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप झकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित करके एक पूर्ण बिम्ब रूप दे देती है और इस प्रकार हमें उस वस्तु को सहजानुभति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतंत्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यंजना भी है अथवा केवल अभिव्यंजना ही है। क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नहीं। जो अभिव्यंजना द्वारा व्यक्त नहीं होता, उसका सहजानुभव ही नहीं होता—वह संवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकार-मात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यंजना। सफल अभिव्यंजना या केवल अभिव्यंजना ही—क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभि-व्यंजना ही नहीं है—कला अथवा कलात्मक सौन्दर्य है। कलात्मक सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है। अतएव उसमें अधिक सुन्दर अथवा अधिक व्यंजक की कल्पना ही सम्भव नहीं, हाँ कुरूपता—जो असफल व्यंजना का दूसरा नाम है—श्रेणी-सापेक्ष्य है; उसकी कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। इसी कारण क्रोचे अभिव्यंजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक सम-झता है—अभिव्यंजना तो एक स्वतन्त्र इकाई है, जो वर्ग कभी नहीं बन सकती। इसलिए वह अलंकार और अलंकार्य के भेद का निषेध करता है और अलंकारों के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है। इसीलिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है, क्योंकि अनुवादक

की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है। उसके लिए शैली और कवि-व्यापार का भी इसी कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य में वस्तु और अभिव्यंजना में अभेद मानता है। वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नही करता परन्तु उसको अरूप झंकृतियो से अधिक और कुछ नहीं मानता। काव्य-वस्तु का महत्व हमारे लिए तभी है, जब वह आकार धारण कर लेती है। अपने अमूर्त रूप में वस्तु जड़ है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती है पर सृजन नहीं कर पाती। सृजन बिना आकार के सम्भव नहीं है, अतएव कला में आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नही होता। यह ठीक है कि वस्तु वह तत्त्व है जो आकार में परिणत होता है, परन्तु आकार में परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा तो होती ही नहीं। इस प्रकार वस्तु और आकार का कला में पृथक् अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यजना के आन्तरिक रूप की बात। पर क्रोचे अभिव्यजना के आन्तरिक रूप और बाह्य रूप में अर्थात् कला और कला-कृति में अंतर मानता है। कला आध्यात्मिक क्रिया है, कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप; जो सदैव अनिवार्य नही होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् सवेदनों की आतरिक समन्विति (इ) आनन्दानुभूति (सौन्दर्यजन्य आनन्द की अनुभूति) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रंग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वों मे अनुवाद और अतिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कला-कृति। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाँचों में मुख्य क्रिया दूसरी ही है।

सारांश यह है कि

१. अभिव्यंजना एक सहज स्वतंत्र आध्यात्मिक क्रिया है, जिसका आधार मूलतः कल्पना है।

२. अभिव्यंजना की सफलता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं।

३. व्यजक उक्ति और व्यग्य भाव एक दूसरे मे पृथक् नही हो सकते। व्यग्य भाव का व्यंजक उक्ति से पृथक् अस्तित्व नही है।

४ अभिव्यंजना का केवल एक अविभाज्य रूप ही होता ह। अतएव काव्य में शैली, अलंकार आदि का पृथक महत्व नही होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्ल जी-कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण दूरारूढ़ कल्पना पर आश्रित नही है। दोनों में पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नहीं है।

साम्य

१. क्रोचे और कुंतक दोनों ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं, जो अनिर्वचनीय है ।

२. दोनों ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व देते हैं अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते हैं वस्तु या भाव में नहीं ।

३. दोनों ही सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं मानते, क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है ।

कुन्तक:—न च रीतीनाम् उत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम् ।

क्रोचे :—

The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate.

वैषम्य

१. वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यंजनावाद का केवल उक्ति से है। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है, अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फिलासफी। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि-कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"वक्रोक्तिकार नित्य की बोल-चाल की रीति से सन्तुष्ट नहीं होते, 'वक्रत्व प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम्'। मैं तो यह कहूँगा कि अभिव्यजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यजनावाद में ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमें प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का।"

२. वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यजनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप में नहीं सहज उक्ति के रूप में ही आता है।

३. वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये हैं; प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

४. वक्रोक्तिवाद में कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद में भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त रूपों पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब-कुछ मानता है।

५. अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झंकृतियों की अन्विति पर आश्रित है. अतएव रस (भाव) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्ति कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सम्बन्ध बहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यँजनावाद का तत्व-रूप में रसवाद से कोई विरोध हो नहीं सकता।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किये हैं। उनमें सबसे मुख्य यह है कि ये "अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले हैं, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।" अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोड़कर किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नहीं करता। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है, परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता आ जाती है। वास्तव में कुंतक की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय 'रमणीयता' में कोई भी अन्तर नहीं है। कौतूहल-जन्य चमत्कार का कुन्तक ने बहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उसे अत्यन्त हेय माना है। फिर ऐसी उक्ति, जिसमें रस हो परन्तु वक्रता न हो, सामने लाना भी तो आसान नहीं है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत पद्माकर की यह रमणीय उक्ति 'नैन नचाय, कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी' सीधी-सादी नहीं है, इसकी वक्रता की कैफियत तो उन लला से पूछिए जिनसे नैन नचाकर और मुसकाकर यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी'।

> फाग के भीर अभीरनि त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
> भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की झोरी॥
> छीन पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ कपोलनि रोरी।
> नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥[1]

हमें आश्चर्य है कि व्यंग्य से वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधी-सादी कैसे मान बैठे?

शुक्ल जी का दूसरा आक्षेप यह है कि इनमें अभिव्यंजना या उक्ति ही सब-कुछ है, वह वस्तु, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है। कुछ नहीं, परन्तु यह तो शुक्ल जी स्वयं भी मानते हैं कि काव्यत्व उक्ति में रहता है, व्यंग्य वस्तु या भाव में नहीं। रही

---

१ जगद्विनोद

वस्तु के महत्त्व की बात तो उक्ति-वक्रता अथवा अभिव्यंजना को महत्त्व देते हुए भी इन दोनों वादों में वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया गया। कुन्तक ने तो वस्तु को निश्चय ही पर्याप्त महत्त्व दिया है, स्वयं उसका पृथक् विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु[१] को कला का उद्दीपक तथा कला-वस्तु अर्थात् अरूप भाव-अंकृतियों या संवेदनों को कला का मूल उद्गम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव से सर्वथा वंचित नहीं किया। अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमें वस्तु और अभिव्यंजना का निश्चित पार्थक्य मानते हैं, क्रोचे दोनों में निश्चित भेद असम्भव मानते हैं। पर क्रोचे-शुक्ल के इस विवाद म आज का साहित्यिक शायद क्रोचे को ही अपना वोट देगा।

ध्वनि-सम्प्रदाय

अन्य सम्प्रदायों की भाँति ध्वनि-सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिष्ठापकद्वय (?) के जन्म से बहुत पूर्व ही हुआ था। स्वयं ध्वनिकार ने ही अपने पहले छंद मे इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधर्यः समाम्नातपूर्वः"[२] अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानो का भी मत है। वास्तव में इस सिद्धान्त के मूल संकेत उनके समय से बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित नहीं थे, परन्तु फिर भी आनन्दवर्द्धन का कहना है कि वे कम-से-कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गए थे। अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट और वामन को साक्षी रूप माना है। उद्भट का ग्रंथ 'भामह-विवरण' आज उपलब्ध नहीं है, अतएव हमें सबसे प्रथम ध्वनि-संकेत वामन के 'वक्रोक्ति विवेचन' में ही मिलता है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।" लक्षणा में जहाँ सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

विद्वानों का मत है कि ईसा की ९ वीं शताब्दी के मध्य मे 'ध्वन्यालोक' की रचना हुई। 'ध्वन्यालोक' एक ही लेखक आनन्दवर्द्धन की कृति है, अथवा आनन्दवर्द्धन केवल वृत्तिकार थे, कारिका उनके पूर्ववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचार्य ने रची है; इस विषय पर पंडितों के विभिन्न मत हैं। डॉक्टर बूहलर और उनके अनु-

---

१. Natural objects.

२. ध्वन्यालोक १.१

सरण पर डॉ० डे तथा प्रोफेसर काणे आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्द्धन दो भिन्न व्यक्ति थे, उधर डॉ० संकरन ने अनेक प्रकार के अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर संस्कृत आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार करते हुए दोनों को एक माना है—यह विवाद अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा। अतएव हिंदी के विद्यार्थी को इसमें उलझने की आवश्यकता नहीं है—यहाँ हम इस समय तो बहुमत के सिद्धान्तानुसार दोनों को पृथक् ही मान लेते हैं।

'ध्वन्यालोक' एक-युग प्रवर्त्तक ग्रंथ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो युग-युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थ वे प्रायः सभी एकांगी थे—अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस-सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमें दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छंदों के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का सघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी, और प्रायः अत्यंत सुन्दर पद्यों को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१. ध्वनि-सिद्धान्त की निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २. रस, अलंकार, रीति, गुण और दोष-विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना, और इस प्रकार काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त की रूप-रेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनो उद्देश्यों की पूर्ति मे ध्वनिकार अपने वृत्ति-लेखक आनन्दवर्द्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए है।

संक्षेप में ध्वनि-सिद्धान्त इस प्रकार है। काव्य की आत्मा ध्वनि है; अर्थात् काव्य में मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं वरन् व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से काव्य के तीन भेद हो सकते है—उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य, मध्यम अथवा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य, और अधम अर्थात् चित्र-काव्य। ध्वनि स्वयं तीन प्रकार की होती ह—वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि। इन तीनों में रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ ह। इस प्रकार तीन आचार्यों ने भी रस को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-तत्त्व माना है, और जहाँ रस सर्वथा निःशेष ह, जैसे चित्र-काव्य में—वहाँ केवल वाग्-विकल्प की ही स्थिति मानी है। इसीलिए तो आधुनिक विद्वान् ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त का ही विस्तार-सूत्र मानते हैं, और यह बहुत अंशों म ठीक भी है।

यह सब होते हुए भी ध्वनि-सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनव गुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके 'लोचन' का वही गौरव है जो 'महाभाष्य' का है। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रज्ञा और प्रौढ़ विवेचना के द्वारा ध्वनि-विषयक समस्त भ्रांतियों और आक्षेपों को निर्मूल कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थिर किया। अभिनव एक प्रकार से रसवादी ही थे। उन्होंने ध्वनि को प्रायः रस के सम्बन्ध से ही महत्त्व दिया है।

परन्तु यह समझना असंगत होगा कि ध्वनि-सिद्धांत निर्विरोध स्थापित हो गया था। आनन्दवर्द्धन के उपरांत ही भट्टनायक ने व्यञ्जना के अस्तित्व का निषेध करते हुए भावकत्व और भोजकत्व दो काव्य-शक्तियों की उद्भावना की। किन्तु अभिनव गुप्त ने सबल तर्कों द्वारा उनको अनर्गल प्रमाणित किया एवं व्यंजना की ही पुष्टि की। भट्टनायक के पश्चात् ध्वनिवाद को कुंतक और महिमभट्ट-जैसे पराक्रमी विरोधियों का सामना करना पड़ा। कुंतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही ग्रहण करके उसको काव्य की आत्मा मानने से इन्कार कर दिया; उधर महिमभट्ट ने कहा कि व्यंजना की उद्भावना ही तर्क-सम्मत नहीं है। शब्द की केवल दो ही शक्तियाँ मानी गई हैं--अभिधा और लक्षणा यह तीसरी शक्ति व्यंजना कहाँ से आ गई। वे स्वयं तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानते हैं अभिधा वास्ताव में जिसे व्यंजना कहा गया है, वह स्वतन्त्र शब्द-शक्ति न होकर केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद है--जिसे उन्होंने नाम दिया 'काव्यानुभूति'। इसी काव्यानुभूति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। महिमभट्ट का यह सिद्धांत स्पष्टतः ही श्री शंकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित था और उसी की तरह यह भी ग्राह्य न हो सका। भट्टनायक, कुंतक और महिमभट्ट के परास्त हो जाने पर ध्वनि का राज्य एक प्रकार से अकण्टक ही हो गया। परवर्ती आचार्यों में मम्मट ने लगभग सभी प्रचलित विचारों का खंडन-मंडन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। ध्वनि के भेद-प्रभेद बढ़ते-बढ़ते अब १०,४५५ तक पहुंच गए थे। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया परन्तु उनका विरोध पंडितराज जगन्नाथ द्वारा बड़े जोर से हुआ। पण्डितराज ने ध्वनिकार-कृत काव्य के तीन भेदों से सन्तुष्ट न होकर उनमें एक भेद 'उत्तमोत्तम' की और वृद्धि की। इस प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य को, जिसे कि ध्वनिकार ने निश्चित ही मध्यम काव्य-श्रेणी में रख दिया था, उत्तम काव्य का गौरव प्राप्त हो गया। वास्तव में ध्वनि और रस-सिद्धांतों का समन्वय, जिसका आरम्भ अभिनव ने ही कर दिया था, इस समय तक आते-आते पूर्ण हो चुका था; और अब आचार्य दोनों में विशेष भेद नहीं करते थे। हिन्दी रीति-ग्रन्थों की जो परम्परा प्राप्त हुई, उसमें ध्वनि का रस में बहुत-कुछ अन्तर्भाव

हो चुका था; इसलिए हिन्दी के आचार्यों ने ध्वनि का साधारण रूप से उल्लेख करते हुए रस का ही विवेचन किया है। फिर भी कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने काव्य का जीव ध्वनि को ही माना है रस को नहीं।

ध्वनि का आधार और स्वरूप––ध्वनिकार ने अपने सिद्धांत का आधार वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो वही स्फोट है। यह स्फोट शब्द वाक्य और समस्त प्रबन्ध तक का होता है। शब्द-स्फोट का एक उदाहरण लीजिए––गौ शब्द में ग्, औ और विसर्ग ये तीन वर्ण है––इन तीनो वर्णों में से गौः का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहें कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहें कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योंकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती, अर्थात् विसर्ग तक आते-आते ग की ध्वनि का लोप हो जायगा, जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणों ने स्थिर किया कि अर्थ-बोध शब्द में स्फोट द्वारा होता है––अर्थात् पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं यही स्फोट है; जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वर्णो की आवाज सुनकर भी अर्थबोध नहीं होता वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दो का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नही होता-वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है; और व्यंग्यार्थ का बोध शब्द की अभिधा लक्षणा से इतर एक तीसरी विशिष्ट शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना की। जैसे घंटे पर चोट लगाने मे पहले टंकार होती है फिर उसमें से मीठी झंकार-ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टकार और व्यंग्यार्थ को झंकार समझना चाहिए। ध्वनि के मुख्य दो भेद है––(१) अभिधा मूलक (२) लक्षणा मूलक। अभिधा मूलक ध्वनि को विवक्षित अन्य परवाच्य ध्वनि कहते हैं जिसके दो भेद हैं: असंलक्ष्य-क्रम, और सलक्ष्य-क्रम रसादि असंलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत आते हैं। लक्षणा-मूलक-ध्वनि को अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं––उसके भी दो भेद हैं––(१) अर्थान्तिर संक्रमित वाच्य (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। आगे इनके अनेक भेद प्रभेद हुए हैं।

व्यंजना शक्ति:––ध्वनि-सिद्धांत का सम्पूर्ण भवन व्यंजना-शक्ति के आधार पर खड़ा हुआ है, परन्तु पूछा जा सकता है कि इस नवीन उद्भावित शक्ति का भी

कोई आधार है या नहीं। और वास्तव में ध्वनि के विरोधियों ने–भट्ट नायक और महिम भट्ट ने–पहला आक्रमण व्यंजना पर ही किया भी। परन्तु व्यंजना का आधार अत्यन्त सुदृढ था और वह इन सभी आघातों के उपरांत भी अटल रहा। एक तो व्यंजना की उद्भावना और नामकरण चाहे ध्वनिकार ने ही किया हो, परन्तु उसका प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याज स्तुति-जैसे वक्रता मूलक अलंकारों में अर्थबोध व्यंजना के ही द्वारा सम्भव था। उदाहरण के लिए 'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः' में अभिधा तो इतना ही कह कर मौन हो जाती है कि जिस पथ से बाली यमपुर गया है वह संकुचित नहीं हुआ; लक्षणा संकुचित का आशय अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देगी, परन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो' प्रतीति कैसे होती है? इसके लिए व्यंजना की सत्ता मानना अनिवार्य है क्योंकि इसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यह तो रही अभावमूलक युक्ति। भावमूलक तर्कों द्वारा भी व्यंजना की मान्यता स्थापित की जा सकती है: शब्द-शक्ति के इस प्रचलित उदाहरण को ही लीजिए 'गंगायां घोषः'। यहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ है 'गंगा पर घर', परन्तु चूँकि गंगा के प्रवाह पर घर की स्थिति अकल्पनीय है, अतः अभिधा का बोध होने पर लक्षणा की सहायता से सामीप्य के कारण इसका अर्थ हुआ गंगा के किनारे। परन्तु वक्ता ने 'गंगा के किनारे' न कहकर 'गंगा पर' कहा इसका क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यह है कि वह ऐसा कहकर उस घर के शैत्य, पवित्रता आदि गुणों का बोध कराना चाहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह प्रयोग ही निष्प्रयोजन है और यदि ऐसा होता है तो उसका बोध कराने के लिए अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्द-शक्ति व्यंजना की भी सत्ता माननी पड़ेगी।

ध्वनिकार अभिनव गुप्त और बाद में मम्मट आदि आचार्यों न अनेक अकाटय तर्कों द्वारा व्यंजना का प्रतिपादन किया है जिसका सारांश सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दों में यह है––

१. जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

२. असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य में रस भावादि व्यंग्य रहते है जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ है न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३. समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

४. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाक्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

५ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद सर्वत्र रहता है: अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद मे होता है।

६. वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष में भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

८. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

महिम भट्ट ने व्यंग्यार्थ को स्वतन्त्र न मानकर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते हैं कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा कही जाती है, वह वास्तव में अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यंग्यार्थ मे लिंग-लिंगी-सम्बन्ध है। हमारे उत्तर में मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नहीं होता, ऐसा भी प्रायः होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग (साधन-हेतु) निश्चयात्मक न होकर अनैकांतिक (व्यभिचारी) ही हो और उससे लिंगी (साध्य) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते हैं ?[१]

वैसे भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान में साधन से साध्य की सिद्धि तर्क के आधार पर होती है, पर ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे नहीं होती। यह प्रत्यक्ष है इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

ध्वनि और रस :—भरत ने रस की परिभाषा की है: विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं—अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यंजना के विषय में कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नहीं करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन'

१. देखिए 'काव्यप्रकाश' पंचम् उल्लास का उत्तरार्ध।

होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मान कर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए हैं उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि। इनमें रस-ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नहीं होता, वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय-रस का बोध न कराकर संवेदन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नही। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरांत, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न करके (क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' में प्रयुक्त न करके विशेष 'चित्र-रूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन में भावना का जो चित्र जगायँ वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है, क्योंकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना में यह चित्र साकार कैसे होगा?

दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा—शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुन कर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उनके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था में पहुँच कर रूप-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्त्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार:—जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यों को लेकर चले थे, उनमें से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तों का ध्वनि में समाहार करना भी था और वास्तव में बाद में ध्वनि-सिद्धान्त

की सर्वमान्यता मुख्य कारण भी यही हुआ । ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे । इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग ही रहते हैं । वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदिक अलंकारों का और न वक्रता का ही । ये सब ध्वनि-रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार आदि तत्त्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं देते । अतएव ये सभी उसी के सम्बन्ध से, उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं । इसके अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है, क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नही होगा वहाँ ये आत्मा-विहीन पंच तत्त्वों अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे । इसलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ (जो मुख्यतया रस ही होता है) अंतरंग रूप से सम्बद्ध हैं जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है; इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है । परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव में उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है । अलंकारों का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलंकारों का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक काव्य-शब्द में अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का और प्रत्येक प्रकार के काव्य में उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारों की स्थिति आभूषणों की-सी है, जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढ़ाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्य में ही वृद्धि करते हैं। क्योकि शरीर-सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है । शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलंकार को अत्यन्त संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। अलंकार को व्यापक रूप में ग्रहण करने पर अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति-चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कि कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय में किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलंकार-अलंकार्य में इतना स्पष्ट भेद ही किया। जा सकता है।)

उपसंहार :—वास्तव में हमारे साहित्य-शास्त्र में सम्प्रदायों की जो यह प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचार्य अलंकार्य-अलंकार—आत्मा शरीर में न केवल व्यवहार रूप से ही वरन् तत्त्व रूप से भी अत्यन्त स्पष्ट भेद मानकर चले हैं। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ये पाँच पृथक् सिद्धान्त नहीं हैं वरन् मूलतः केवल दो ही सिद्धान्त हैं—रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे देता है दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते हैं और ये आत्मवादी हैं, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्वतः रीति अथवा अलंकार के अन्तर्गत आते हैं। (शुक्लजी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव में अलंकार की अपेक्षा अधिक संगत एवं स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी हैं। आत्मा और शरीर की सापेक्षिक अनिवार्यता स्वतः-सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है तो शरीर के बिना आत्मा का भी कोई मूर्त अस्तित्व नहीं है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध में भी घटती है। भाव का सौंदर्य उक्ति के सौंदर्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव के सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता। उक्ति के सौन्दर्य में मैं केवल कौतूहल या तमाशा खड़ा करने वाले चमत्कार को, जिसे वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नहीं करता, क्योंकि वह सभी दशाओं में सहृदय का अनुरंजन नहीं कर सकता। इसलिए तत्त्व रूप में रस और रीति-सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। ये तो एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं और इसलिए प्रतिवाद करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्त्व को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार ही करते रहे हैं।

नायिका-भेद

पूर्व-वृत्त—नायिका-भेद को लेकर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में कोई नवीन वर्ग नहीं उठ खड़ा हुआ। उसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं था। आरम्भ में केवल नाट्य-शास्त्रों में ही नायक-नायिका का वर्गीकरण एवं उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रों के शील, मर्यादा का आदि से अंत तक उचित रीति से निर्वाह कर सके। परन्तु बाद में जब रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसों में भी शृङ्गार को रस-राजत्व प्राप्त हो गया तो शृङ्गार के आलम्बन-रूप नायक-नायिका को भी विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वर्णन होने लगा। नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ तो मुख्यतः दो ही हैं—एक भरत का 'नाट्य-शास्त्र' दूसरा धनंजय का 'दश-रूपक'। साहित्य-शास्त्र के अन्य अंगों की भाँति नायिका-भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने किया है। 'नाट्य-शास्त्र' के बाईसवें अध्याय में नायिका-भेद की

लगभग समस्त सामग्री किसी-न-किसी रूप में मिल जाती है। उसमें मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मान-मोचन के उपाय, दूती आदि अन्य सब प्रसंगों का भी विस्तृत वर्णन है। भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा :

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता।
उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता॥[1]

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदों में विभक्त किया जा सकता है :

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठिता वा।
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषित-भर्तृका॥
स्वाधीन-पतिका वापि कलहांतरितापि वा।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृताः॥[2]

इसके आगे भरत ने स्त्रियों के फिर तीन भेद किये हैं:—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव में सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारांतर ही हैं)। उधर नायक के धीर-ललित आदि भेदों के समानान्तर भी उन्होंने नायिकाओं के चार भेद माने हैं। अन्त में, राजाओं के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी, स्वामिनी से लेकर अनुचारिका, परिचारिका आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति-भेद, अवस्था-भेद तथा कर्म-भेद को तो ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। हाँ, धीर-ललित आदि भेदों को उन्होंने नायकों तक ही सीमित रखा है। अन्तःपुरवासिनी, महादेवी, देवी, आदि भी धीरे-धीरे किसी-न-किसी व्याज से नायिका भेद में अंतर्भूत हो गई।

धनंजय का विवेचन स्वभावतः ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव में उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट उसको व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनंजय ने भरत के प्रकृति, कर्म और अवस्था—भेदों के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए हैं, और वय-भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय-भेद— मुग्धा—१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४. कोपमृदु
मध्या—१. यौवनवती
२ कामवती

---

१. नाट्य-शास्त्र'-अ० ३१-२२
२. 'नाट्य-शास्त्र' अ० २२

प्रगल्भा—१. गाढ़-यौवना
२. भाव-प्रगल्भा
३. रति-प्रगल्भा[1]

इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस-प्रसंग के अन्तर्गत नायिका-भेद का उपर्युक्त वर्णन किया है—उसमें क्षेमेन्द्र, केशव मिश्र और विशेष रूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय हैं। विश्वनाथ का विवेचन धनंजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। (शायद धनंजय से ही संकेत ग्रहण करके) उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढ के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किए हैं—

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना, (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा, (३) रतिवामा, (४) मानमृदु, (५) समधिक लज्जावती।

मध्या—(१) विचित्र सुरता, (२) प्ररूढ़-स्मरा, (३) प्ररूढ़यौवना, (४) ईषत्-प्रगल्भ-वचना, (५) मध्यम-व्रीड़िता।

प्रगल्भा—(१) स्मरान्धा (२) गाढ़-तारुण्या (३) समस्त-रत-कोविदा (४) भावोन्नता (५) दरव्रीड़ा (६) आक्रान्ता।

नायिका के अलंकारों की संख्या विश्वनाथ ने दस से अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रंथ तो आधार-मात्र रहे। नायिका-भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रंथ रुद्रभट्ट का 'शृङ्गार-तिलक' ही माना जा सकता है, क्योंकि वही काव्य-शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रंथ है, जिसमें शृङ्गार को मुख्य रस मानकर उनके अंग-उपांगों अर्थात् संभोग विप्रलम्भ, नायक-नायिका, काम-दशा, मान-मोचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या मिलती है। 'शृंगार-तिलक' के इस प्रकार का दूसरा ग्रंथ भोज का शृङ्गार-प्रकाश' है, जिसमें शृङ्गार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपर्युक्त सभी प्रसंगों का अपनी विस्तार-प्रिय शैली में 'अग्नि-पुराण' के अनुसरण पर बीस परिच्छेदों में विस्तृत विवेचन किया है। इसके बाद तो इन शृङ्गार-परक ग्रंथों की झड़ी लग गई और न जाने कितने छोटे-मोटे ग्रंथों का प्रणयन हुआ, जिनमें शारदातनय का भाव-प्रकाश', शिग भूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त के दो ग्रंथ 'रस-तरंगिणी' और 'रस-मंजरी', विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे व्यवस्थित ग्रंथ है 'रस-मंजरी', जो हिन्दी-नायिका-भेद का मूलाधार है।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रंथों का उचित परीक्षण करने के उपरांत नायिका-भेद को सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसका अत्यधिक विस्तार किया है, परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के कतिपय अनावश्यक

१. देखिए दशरूपक

भेदों को यथास्थान काँट-छाँट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य-शास्त्र के उन्नायक आचार्यों में तो कोई स्थान नहीं है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यंत विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यंत स्पष्ट और संगोपांग है, इसीलिए तो उत्तरकालीन कवि शिक्षा-प्रणेताओं में वे सबसे अधिक लोक-प्रिय हो गए। हिन्दी में आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की 'हिततरंगिणी', नन्ददास की 'रसमंजरी' चिंतामणि का 'कविकुल-कल्पतरु', मतिराम का 'रस-राज', देव का 'भाव-विलास', रसलीन का 'रस-प्रबोध', बेनीप्रवीन का 'नवरस-तरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि, प्रायः समस्त शुद्ध रस-ग्रंथ 'रस-तरंगिणी' और 'रस-मंजरी' से अत्यंत स्पष्ट रूप में प्रभावित है। इनमें स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कहीं-कहीं सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य-युग में भानुदत्त के उपर्युक्त दोनों ग्रंथ पाठ्य-ग्रंथ के रूप में पढ़े जाते थे। 'रस-मंजरी' में मुग्धा के केवल तीन भेद माने गए हैं--

१. अंकुरित यौवना (ज्ञात यौवना और अज्ञात यौवना)

२. नवोढ़ा

३. विश्रब्ध-नवोढ़ा।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नही किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किये गए हैं--(१) रति प्रीता, (२) आनन्दात्संमोहा।

विश्वनाथ ने परकीया के केवल दो भेद माने हैः-(१) परोढ़ा (२) कन्यका; परन्तु भानुदत्त ने परोढ़ा के प्रमुख ६ भेद और उनमें से कई भेदों के अवान्तर-भेद कर दिए हैं :--

परोढा : १. गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत्, (इ) वर्तमान]

२. विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा, (आ) क्रिया-विदग्धा]

३ लक्षिता, ४. कुलटा ५. अनुशयनाः-

{ १. वर्तमान स्थान-विघट्टना
२. भावी स्थान ,,
३. संकेत स्थल नष्टा }

६. मुदिता

इसी प्रकार अवस्था-भेदों में मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए-उनमें अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले हैंः-

अभिसारिका-(१. ज्योत्स्नाभिसारिका, २. दिवाभिसारिका,
३. तमोभिसारिका)

और प्रोषित-भर्तृका के अन्तर्गत प्रोत्स्य-भर्तृका का भी उल्लेख किया है। उधर वर्गक्रम में भी विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए-

दशानुसार—१. अन्य-संभोग-दुःखिता, २. वक्रोक्ति-गर्विता (प्रेम-गर्विता),
३. मानवती । (सौन्दर्य-गर्विता)

पति-प्रेमानुसार—१. ज्येष्ठा, २. कनिष्ठा ।

अंशानुसार—१. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य ।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने शृङ्गार रस के इन प्रसंगों की भक्तिपरक व्याख्या करते हुए उनको एक नया रूप ही दे डाला । उन्होंने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन में मुख्य रस माना उज्ज्वल या माधुर्य । भक्ति के पाँच भेद हैं— शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । इनमें माधुर्य सबसे प्रमुख है—इसी को उन्होंने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है, जो वास्तव में शृङ्गार का ही धार्मिक रूप है। इसका स्थानीय भाव है कृष्ण-रति, और आस्वादयिता है भक्त । शृङ्गार के भेद-प्रभेदों और समस्त नायिका-भेद को लेखक ने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के अनुसार ही घटाया है । यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिय अनुभूतियों से सम्बन्ध न रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता है ।

इन लेखकों ने रस-शास्त्र के विवेचन में किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ नहीं की । वास्तव में इनका सम्बन्ध भी काव्य-शास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र से ही अधिक था । फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हों, परन्तु इनकी रसिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता । इन्होंने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है । अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होंने शृङ्गार रस को ले लिया और उसी के विभिन्न अंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे । इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट ने स्वयं कहा है उदीयमान कवियों को शृङ्गार के छंद रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिकों का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा बढ़ाना था— कि गोष्ठी-मडन हन्त शृङ्गार-तिलकं विना" ।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार:—सबसे पूर्व नायिका के साधारण, लक्षण को ही लीजिए-- 'नायक की ही भाँति त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी रूप, यौवन, चातुर्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि के गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है ।" नायिका को उपर्युक्त गुणों से अलंकृत मानने का मूल कारण हमें रस के साधारणीकरण सिद्धांत में मिलेगा । साधारणीकरण मुख्यतः आलम्बन का ही होता है । अतएव शृङ्गार की आलम्बन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह सभी के रति-भाव की आलम्बन हो सके । इसी दृष्टि से उसमें उपर्युक्त गुणों को अनिवार्य मानकर उसके अन्तर्बाह्य को आकर्षक रूप दिया गया है । इस प्रकार काव्य में स्थूलतः किसी प्रकार वाणी अथवा कर्म द्वारा मर्यादा-उल्लंघन की आशंका नहीं रहती ।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद-प्रभेदों का आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नहीं है, परन्तु उसे सर्वथा अनर्गल फिर भी नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि यह विभाजन नारी की आन्तरिक मनोवृत्तियों से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एवं सर्वव्याप्त आधार को लेकर नहीं किया गया, परन्तु उसके पीछे कोई आधार या संगति ही न हो यह बात भी नहीं है। वास्तव में यहाँ हमें विभिन्न आधारों की संसृष्टि मिलती है, जो अधिकांश में जीवन के बाह्य रूपों पर आश्रित है। प्राचीन आचार्यों ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने हैं—

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी इत्यादि।

२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा।

६. दशा—अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता।

७. काल (अवस्था)—प्रोषित-पतिका, कलहांतरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि।

८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

आइये इनकी एक-एक करके परीक्षा करें। पहले आधार को नाम दिया गया है जाति। वास्तव में नायिकाओं का यह वर्ग और इसका यह नाम दोनों ही 'काम-शास्त्र' से लिये गए हैं। 'काम-शास्त्र' में यह भेद स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निर्भर रहती हैं किये गए हैं। साधारणतः संस्कृत में जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के परिभाषिक रूप में किया गया है जिसमें आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। वैसे यह जाति-विभाजन बहुत-कुछ प्रकृति के ही आधार पर किया हुआ है। वर्ग और जाति का अर्थ है यहाँ 'प्राकृतिक वर्ग'। दूसरे वर्ग के लिए कर्म शब्द का प्रयोग है। यह शब्द वास्तव में अर्ध-व्यक्त है। कर्म से तात्पर्य शायद नारी-धर्म की दृष्टि से अनुचित-उचित कर्म का है। अपने पति में अनुरक्त होना नारी का धर्म है और यह उसके लिए उचित कर्म है दूसरे पति से प्रेम करना अनुचित कर्म है, और धन के लिए वार-विलास करना नीच कर्म है। इस प्रकार अर्थ बैठ तो जाता है, परन्तु शब्द में सम्यक् अर्थ-ध्वनन् की शक्ति नहीं है। कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परन्तु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः नायिका के ये तीन भेद नायक-नायिका के सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले हैं। यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात्

लोक-वेद-सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वीया है; यदि अवध अर्थात् लोक-वेद-विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है; और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान-प्रदान न होकर व्यावसायिक है तो वह सामान्या है। कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने लोकरीति और दास ने धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्संदेह ही अधिक सार्थक हैं। ज्येष्ठा-कनिष्ठा का एक-मात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है, परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है। चौथे वर्ग का आधार माना गया है वय-भेद यहाँ वय का आधार तो एक प्रकार से स्वतः स्पष्ट ही है, परन्तु वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्त्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नहीं मिलेगा। आगे धीरादि भेद हैं जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या-कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर बहुत-कुछ संयोग और परिस्थिति पर आश्रित है और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा में भी पहुँच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और आवश्यक है दशानुसार विभाजन, जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवति और गर्विता नायिकाओं को लिया गया है। इनमें से अन्य-सुरति-दुःखिता और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि में पूर्णतः अंतर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन-पतिका में सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते हैं जो सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य हैं—एक में अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीन भर्तृका आदि अष्ट नायिकाओं का वर्णन आता है, दूसरे में प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनों वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे हैं और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यों-के-त्यों स्वीकृत कर लिए हैं। स्वाधीन भर्तृका आदि का आधार प्रायः 'काल' माना जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर संकेत किया है, और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव में ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा के आश्रित हैं। यदि नायक पूर्णतः अपने आधीन है तो सर्वथा सुखी और संतुष्टमना नायिका 'स्वाधीन-पतिका' कहाती है; अन्य स्त्री के संसर्ग-चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाली नायिका 'खण्डिता' कहाती है; जो नायक से मिलने के लिए संकेत स्थान पर जाय ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं; जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त कर दे फिर पीछे से पछताये उसे 'कलहांतरिता'; और संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाय उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते हैं। अनेक कार्यों

में फँसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम-पीड़िता नायिका—'प्रोषित-पतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो रही हो, उसे 'वासकसज्जा' और आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके वह 'खिन्नमना' नायिका विरहोत्कंठिता कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट करके कहें तो सामयिक स्थिति अर्थात् नायिका की तत्कालीन मनोदशा का है। थोड़ा वक्र करके कुछ लोगों ने इससे पूर्वापर क्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त आठ भेदों में क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न संगत; क्योंकि स्पष्टतः ही ये अवस्थाएँ पूर्वापर नहीं हैं। यह भ्रान्ति वास्तव में 'काल' शब्द के प्रयोग से फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनों में गुण ही अधिक प्रचलित है, परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति (स्वभाव) ही अधिक संगत बैठेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका-भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खड़ा हुआ है उसमें अनेक प्रकार के समान-असमान अवांतर आधारों की संसृष्टि है—जो कहीं सामाजिक सम्बन्ध, कहीं स्वभाव, कहीं मनोदशा, कहीं काम-प्रवृत्ति, कहीं आभ्यंतर और शारीरिक प्रकृति कहीं केवल नायक के प्रेम की न्यून्यता-अधिकता पर ही आश्रित है। इनमें कुछ आधार मूलगत और कुछ नितान्त स्थूल हैं। इतना अवश्य है कि इन सभी में नायक-नायिका की पारस्परिक रति-भावना मूल सूत्र के रूप में अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण में चरित्र-चित्रण एवं 'शील-निरूपण' का अत्यंत स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है, व्यक्तिगत नहीं। यह वर्गीकरण इस सिद्धान्त को लेकर चला है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है, एक विशेष परिस्थिति में वह एक विशेष रूप में ही प्रतिक्रिया करेगी। वास्तव में यह सिद्धांत आत्यन्तिक रूप मे चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है। ऊपर से एक दिखने वाली परि-स्थितियों में कितनी आन्तरिक गुत्थियां हैं, यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह में जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए हैं। इसीलिए मानव-मन का वर्गगत विश्लेषण साधारणतः सफल नहीं होता, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहार्य होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन में एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के बाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मानकर चला है। काम-वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार तल पर

उस पर अन्य प्रवृत्तियों की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है यह असंदिग्ध है। हमारे नायिका-भेद में इसका ध्यान नहीं रखा गया। उसका तो मुख-वाक्य यही है कि सब-कुछ होते हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है—'A woman is a woman for all that', इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन में इतना योग नहीं दे सका, जितना काव्य-सृष्टि में। नायिका-भेद सिद्धान्त-शास्त्र न बनकर चित्र-संग्रह ही बन गया।

: ३ :

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास—हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण-ग्रन्थों के लिए होता है : जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अंगों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते हैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते है। संस्कृत में इसे अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्रायः कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भमि से स्पष्ट है, रीति-सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। सम्भव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति-सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव में यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति-ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो वह रीति-काव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है, और यह नया नहीं है। रीति-काल के अनेक कवियों ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलंकार-रीति, कविता-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है :

१. अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।[1]

२. काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।[2]

३. कविता-रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चित लाय।[3]

---

१ देव : 'शब्द-रसायन'

२ दास : 'काव्य-निर्णय'

३ प्रतापसाहि : 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी'

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में अलंकार-विवेचन को अलंकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य स्पष्टतः है प्रकार-प्रणाली का। रीति-काल के उत्तरार्ध में यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियों के समय में यह शब्द इस रूप में सर्व साधारण में स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्रबन्धुओं ने इस युग का नाम 'अलंकृत-काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रन्थों को रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन ही कहा है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बडी स्वच्छ व्याख्या की गई है। "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रन्थों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यता की वृद्धि हुई।··· आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रन्थों के सहायक-मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न।" कहने का तात्पर्य यह है कि रीति शब्द, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, शुक्ल जी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्ल जी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। शब्द स्वयं इतना सर्व-परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण-ग्रन्थों के लिए भी, जिनमें रीति-कथन तो नहीं है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से है, रीति संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति-कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्ल जी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलंकार-काल या शृङ्गार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य-विशेष को, जिसमें रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमों का बन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

संस्कृत-अलंकार-शास्त्र के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत में रीति-ग्रन्थों के प्रणेता प्रायः कवि नहीं थे—आचार्य ही थे; जो कविता न करके सिद्धान्तों का खंडन-

मंडन और प्रतिपादन करते थे। भरत, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार, अभिनव, कुंतक, मम्मट आदि ने तो काव्य-रचना ही नहीं की--सूत्र, कारिका, वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन-मात्र किया है। दण्डी, राजशेखर आदि जो कवि भी थे--उन्होंने भी अपने दोनों रूपों को पृथक् ही रखा है। परन्तु फिर भी संस्कृत में एक परम्परा मिलती अवश्य है जिसमें कविता और आचार्यत्व दोनों रूपों का विभिन्न अनुपातों से सम्मिश्रण हुआ है--उदाहरण के लिए दण्डी, भानुदत्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने गद्य में विवेचन अवश्य किया है परन्तु उदाहरण सभी अपने दिये हैं; इसके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द', 'एकावली', 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि के रचियताओं ने तो लक्षण-निरूपणों के समान ही उदाहरणों को भी गौरव दिया है; क्योंकि ये उादहरण उनके आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में लिखे होने के कारण स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं। उधर 'चन्द्रालोक' में जयदेव ने लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में देकर गद्य का बहिष्कार कर दिया है। इस प्रकार शताब्दियों तक प्रौढ़ खंडन-मंडन और व्यापक विवेचन हो चुकने के पश्चात् संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उत्तरार्द्ध में अपने-अपने आश्रयदाताओं अथवा तत्कालीन रसिक नागरिकों को साधारण काव्य-शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रसज्ञ पण्डितों मे रीति-ग्रन्थ रचने की परिपाटी चल पडी थी। इनमें विवेचन और खडन-मडन को विशेष महत्त्व नही दिया जाता था--सक्षिप्त लक्षण-भर दे दिए जाते थे। परन्तु उदाहरण, जो कही उद्धृत और कही-कही स्वरचित भी होते थे, अत्यन्त सरल और मधुर रखे जाते थे। इन दिनों श्रृङ्गार रस तो अत्यधिक लोकप्रिय हो ही गया था, अतः नायिका-भेद का भी समावेश प्राय. सभी मे किया जाने लगा था। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के पूर्वार्ध का प्रौढ सैद्धान्तिक विवेचन, जिसकी कि बार-बार शुक्ल जी ने दुहाई दी है, इस समय तक प्रायः समाप्त हो चुका था। पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य वास्तव मे अपवाद ही थे। प्राकृत और अपभ्रंश का जो साहित्य आज प्राप्य है उससे स्पष्ट पता चलता है कि उसमें भी यही पिछली परिपाटी चली, जो आलोचना की अपेक्षा काव्य को अधिक महत्त्व देती थी--हिन्दी का रीति-काव्य इसी का सीधा विकास है। इसी कारण उसमें आचार्यत्व और कविता का सम्मिलन है।

रीति काव्य की प्रेरणा और स्वरूप--रीति कविता राजाओ और रईसो के आश्रय मे पली है--यह एक स्वतः प्रमाणित सत्य है--अतएव उसकी अन्तःप्रेरणा और स्वरूप को कवियों और उनके आश्रयदाता दोनों के सम्बन्ध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास से स्पष्ट है कि रीति-काल के आरम्भ से ही दिल्ली-दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था--औरंगजेब के समय में कलावन्तों को

दिल्ली में कोई आकर्षण नहीं रह गया था। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राज-दरबार का विकेन्द्रीकरण बड़े वेग से आरम्भ हो गया था और कवि, चित्रकार, गायक और शिल्पी सभी राजाओं और रईसों के यहाँ आश्रय की खोज में भटकने लग गए थे। ये राजा और रईस अधिकांशतः हिंदू या हिंदू रीति-रिवाजों से घुले-मिले हिन्दी-रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओं को छोड़कर शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक् अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राज-वंश भी जब इस समय इतन कोलाहल के बीच ऐश और आराम में मस्त था तो इन राजा और रईसों को तो चिंता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विकास का अवसर कहीं अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राज-दरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियों के दासत्व और उत्पीड़न के उपरान्त अब वह समय आ गया था जब इनमें आत्म गौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी--इसीलिए तो अव्यवस्था और उत्क्रान्ति के युग में भी ये लोग चैन की वंशी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति भी अब उसमें नहीं थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को--विनोद के सभी रसालाओं को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सुवाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ तानुक ताला और गुणी जनों का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी--वह केवल विनोद का रसाला ही नही थी एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृङ्गार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे--उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

रीति-काल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी--काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे; परन्तु अपनी काव्य-कला के द्वारा ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था--इसी कारण कविता इनके लिए मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृङ्गार बन पाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे इसका तो निषेध नहीं किया जा सकता--परन्तु इसके आगे बढ़कर

इनको काव्य-व्यवसायी या फ़र्मायशी कवि कहना अन्याय होगा। सारांश यह है कि रीति-काव्य में आत्मा की काँपती हुई आवाज आपकोन ही मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत कविता नहीं है। वह कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तु-तत्त्व[१] असंदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप मे रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसीके अपने निमित्त की जाती थी—वह अपना साध्य आप थी।

निदान रीति-काव्य मे दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई मिलती है—(१) रीति-निरूपण अथवा आचार्यत्व—और (२) शृङ्गारिकता।

रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

रीति-निरूपण की दृष्टि से विचार करने पर इन कवियो मे कतिपय स्वतन्त्र अंतः-प्रवृत्तियाँ सहज ही लक्षित हो जाती है। एक वर्ग तो ऐसे कवियों का है जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया है और दूसरा उन कवियों का है जिन्होंने रीति-शास्त्र के पण्डित होने पर भी लक्षण-उदाहरण के फेर में न पड़कर केवल लक्षण-ग्रन्थों की रचना की है। हम देख चुके है कि हिन्दी-रीति-काव्य के पीछे एक विशाल शास्त्रीय आधार था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा और काव्य के सभी अंगों का सूक्ष्म विवेचन होने के उपरान्त स्थिर सिद्धान्तों की स्थापना हो चुकी थी। मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के बाद मूल सिद्धान्त-विषयक उद्‌भावनाएँ प्रायः निःशेष हो गई थी। अब तो प्रायः सम्पादन और स्पष्टीकरण ही शेष रह गया था। ऐसी दशा में बेचारे हिन्दी कवि क्या मौलिक आविष्कार कर सकते थे, वे तो यदि मूल सिद्धान्तों का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण ही कर देते तब भी पर्याप्त होता। परन्तु वे ऐसा भी सुचारु रूप से न कर पाए। इसके कुछ विशेष कारण थे। एक तो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की जिस उत्तरकालीन परिपाटी का वे अनुकरण कर रहे थे, स्वयं उसमे ही खंडन-मंडन और सूक्ष्म विवेचन की प्रणाली नहीं रह गई थी। दूसरे, जिसके लिए इन ग्रन्थों की रचना हो रही थी वह पंडितों का वर्ग न होकर केवल रसिकों का ही समुदाय था, जिनमें अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने का धैर्य नहीं था। जो केवल उतने ही काव्यांग-परिचय

१. Objectivity

की अपेक्षा करते थे जितना कि उनकी रसिकता के पोषण के लिए अनिवार्य था। इनके अतिरिक्त तीसरा प्रमुख कारण गद्य की विवेचना-शैली का अभाव था, और चौथा इनमें से अनेक कवियों का अपरिपक्व शास्त्र-ज्ञान भी कहा जा सकता है। ये कवि जिन उद्देश्यों को सामने रखकर चले थे उनमें सर्वप्रमुख था सरस काव्य की रचना करना, और दूसरा था शौकीन मिजाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकों को काव्यांगों का साधारण ज्ञान करा देना—इनके अतिरिक्त किसी-किसी का उद्देश्य पांडित्य-प्रदर्शन भी था। परन्तु मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन इनका वास्तविक लक्ष्य नहीं था, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए इनकी दृष्टि प्रायः उन्हीं उत्तरकालीन ग्रन्थों तक गई जो पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण अथवा उनका सरल परिचय कराने के लिए रचे गए थे, स्वतन्त्र सिद्धान्तों की स्थापना करने वाले मौलिक ग्रन्थों तक वह नहीं पहुँच पाई। 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'रसतरंगिणी', 'रस-मञ्जरी' या अधिक-से-अधिक 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' से आगे 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'वक्रोक्ति-जीवितम्', 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति', 'काव्यादर्श' अथवा 'काव्यालंकार'-जैसे ग्रन्थों तक ये प्रायः नहीं गए। जिन विद्वान् कवियों ने काव्यांग-विवेचन को अपेक्षाकृत महत्त्व दिया भी है उन्होंने भी इन मूल सिद्धान्तकारों के मतों का उल्लेख और खंडन-मण्डन प्रायः नहीं किया। केशवदास ने अवश्य दण्डी के 'काव्यादर्श' और केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' का अनुसरण किया है परन्तु विवेचन और प्रतिपादन का उद्देश्य उनका भी बिलकुल नहीं रहा। रस-निष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार रस का सम्बन्ध एवं इस प्रकार के अन्य सूक्ष्म सिद्धान्तों का तो कुलपति-जैसे एकाध आचार्य को छोड़कर किसी ने उल्लेख तक नहीं किया है, इनके अतिरिक्त काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, गुण-अलंकार-भेद आदि अपेक्षाकृत गौण सिद्धान्तों का भी निरूपण अत्यन्त विरल और अस्पष्ट है। नवीन वाद-प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

निरूपण-शैली—हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में प्रायः तीन प्रकार की निरूपण-शैली काम में लाई गई है—१. 'काव्य-प्रकाश' की निरूपण-शैली, जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है २. 'शृङ्गार-तिलक', 'रस-मंजरी' आदि की शृङ्गार-रसमयी नायिका-भेद वाली शैली, जिसमें केवल शृङ्गार के विभिन्न अंगों, विशेषकर नायिका के भेद का ही निरूपण किया गया है, ३. 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली, जिसमें अलंकारों के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिये गए हैं।

पहली श्रेणी में सेनापति का 'काव्य-कल्पद्रुम', चिन्तामणि के दो ग्रंथ 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'काव्य-रसायन', सूरति

मिश्र का 'काव्य-सिद्धान्त', श्रीपति का 'काव्य-सरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', कुमार मणि भट्ट का 'रसिक-रसाल', रतन कवि का 'फतेहभूषण', करन कवि का 'साहित्यरस', प्रतापसाहि का 'काव्य विलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिक गोविन्दानन्दघन' सदृश सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ आते हैं। इनके अतिरिक्त 'काव्य प्रकाश' के कुछ अनुवाद भी हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में धनीराम ने जो अनुवाद करना आरम्भ किया था वह तो अधूरा ही रह गया, परन्तु बीसवीं शताब्दी में सेवक कवि ने स्वतन्त्र रूप से यह कार्य समाप्त कर लिया। 'साहित्य-दर्पण' का भी एक-आध अनुवाद हुआ। शताब्दियों तक विस्तृत रीति-युग में यदि वास्तव में आचार्यत्व के अधिकारी कुछ कवि हुए तो वे उपर्युक्त छः-सात कवि ही थे। इन्होंने रीति-निरूपण को गम्भीरता पूर्वक ग्रहण किया है। इनके ग्रंथों में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस-भाव, ध्वनि, नायिका, अलंकार, पदार्थ-निर्णय (शब्द-शक्ति), रीति, गुण, दोष, पिंगल आदि सभी का यत्किंचित् व्यवस्था के साथ निरूपण किया गया है। पदार्थ-निर्णय, गुण-दोष आदि उपेक्षित प्रसंगों का भी, जिनका निरूपण करने का अन्य कवियों में न धैर्य था न क्षमता, इन लोगों ने यथोचित समावेश किया है। इनके विवेचन से स्पष्ट है कि इनका ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा लक्षण पर अधिक रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके लक्षण कहीं-कही अस्पष्ट और भ्रामक है, और यह भी ठीक है कि केवल इन पर निर्भर रहने वाले जिज्ञासु का रीति-ज्ञान अधूरा और कच्चा ही रहेगा, परन्तु इनका अपना शास्त्र-ज्ञान भी बिलकुल कच्चा या अधूरा था, यह कहना इन मर्मज्ञों के प्रति अन्याय होगा। ये प्रायः सभी कवि रीति-शास्त्र के गम्भीर पण्डित थे, उनका अध्ययन व्यापक था। दुर्भाग्य-वश इनको तर्कोपयोगी गद्य का माध्यम उपलब्ध नहीं था, इसीलिए ये जटिलताओं को स्पष्ट नहीं कर पाए। अधिकतर ये लोग शब्द-शक्तियों के विवेचन मे अथवा अलंकारों के पार्थक्य-प्रदर्शन में ही उलझे है, परन्तु ये विषय तो हैं ही इतने गम्भीर और सूक्ष्म कि संस्कृत के भी अनेक आचार्य इनमें साफ़ नही उतर पाए। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के विवेचन तो प्रायः अवैज्ञानिक हैं—उनकी विफलताओं को देखना हो तो गुणों और रीतियों के विवेचन को देखिये—उनमें से अनेक उद्भट विद्वान् गुणों और अलंकारों में अंतर नहीं कर पाए, गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध और भेद-निरूपण, तथा अलंकारों के भेद-प्रभेदों की सूक्ष्मताएँ तो अन्त तक आचार्यों को उलझाती रहीं। रस-निष्पत्ति के विषय में लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के वास्तविक मत क्या थे, इसका स्पष्टीकरण विभिन्न आचार्यों ने इतने विभिन्न रूपों में किया है कि आज गद्य की प्रौढ़ विवेचन-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर भी पण्डितों में ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका है। अलंकारों का गोरखधंधा भी इतना विचित्र है कि वे प्रायः एक दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते है। इसका कारण स्पष्ट है कि भारतीय रीति-शास्त्र की प्रवृत्ति आरम्भ

से ही भेद-उपभेदों की सूक्ष्म जटिलताओं से क्रीड़ा करने की रही है। बात को इतनी दूर तक घसीटा गया है कि सीमा-व्यतिरेक सर्वथा अनिवार्य हो गया है। ऐसी दशा में यदि हिन्दी के ये आचार्य, जिनको सब-कुछ पद्य में कहना था, उलझन में पड़ गए हैं तो आश्चर्य ही क्या ? इनका एक दोष स्पष्ट रहा है—वह यह कि ये लोग सर्वथा संस्कृत-रीति-ग्रन्थों के उपजीवी रहे हैं—संस्कृत का उन दिनों कुछ ऐसा रौब ग़ालिब था कि हिन्दी का कवि बेचारा उसके ग्रंथों को आर्ष ग्रंथ मानता हुआ उनसे स्वतंत्र होने की हिम्मत ही नहीं कर पाता था। यह बात आज भी बहुत-कुछ वसे ही रूप में विद्यमान है। आज भी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और श्री केडिया-जैसे पंडित संस्कृत-उदाहरणों के अनुवाद ही दे रहे हैं। हिन्दी का व्यापक काव्य-साहित्य, उसकी विकास-शील अभिव्यंजना-शक्ति उनके लिए आज भी जैसे निरर्थक ही है। मुख्यतया इसी त्रुटि के कारण इन कवियों के विवेचनों में अस्पष्टता और दुरूहता आदि दोष, जो अनुवाद के अनिवार्य अंग हैं, आ गए हैं। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थों को पढ़ते समय गद्य वार्तिक की आवश्यकता का अनुभव और भी अधिक क्यों होता है इसका एक अन्य कारण है—वह यह कि इन्होंने प्रायः सर्व-परिचित पद्यों को उदाहरण रूप में न देकर या तो संस्कृत से अनूदित पद्यों को या फिर अपने रचे हुए नवीन छन्दों को ही दिया है। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने अपने परवर्ती और समकालीन साहित्य का विधिवत् पर्यालोचन करने के उपरांत साहित्य की परिवर्तनशील प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर रीति-निरूपण किया है। उनके उदाहरण प्रायः परिचित हैं, जिनको ग्रहण करने के लिए पाठक की बुद्धि पहले से ही प्रस्तुत रहती है। इसके साथ ही वे कारिका और वृत्ति के सहारे उद्दिष्ट वस्तु का स्पष्टीकरण भी कर देते हैं जिससे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। एक-आध को छोड़कर य रीतिकालीन आचार्य न तो प्रायः हिन्दी के परिचित उदाहरण ही देते थे और न गद्य-वार्तिकों द्वारा मूल वस्तु का स्पष्टीकरण ही कर पाते थे। परिणाम-स्वरूप उन पर निर्भर पाठक का ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। फिर भी, इस युग के किसी कवि ने ऐसा करने की चेष्टा नहीं की—एक साथ यह कह देना भी अन्याय होगा। कम-से-कम इस श्रेणी के कवियों में से अधिकांश ने बड़ी ईमानदारी और मनोयोग के साथ अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न किया है। कुलपति, दास और विशेष रूप से रसिक गोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा-तैसा प्रयोग करते हुए अपने मन्तव्य को व्यक्त करने की चेष्टा की है। प्रतापसाहि और रसिक गोविन्द ने मम्मट आदि की परिचित शैली के अनुसरण पर प्राचीन आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। प्रतापसाहि ने 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'रस गंगाधर' के लक्षणों को स्वच्छ हिन्दी में अनूदित करते हुए पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ उद्धृत

किया है, जिससे (अध्येता को सरलता से ही) काव्यांगों का व्यापक ज्ञान हो जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है :

मत लहि काव्य-प्रकाश कौ काव्य प्रदीप सँजोइ ।
साहित्य-दर्पण चित समुझि, रस गंगाधर सोइ ।।
समुझि परै साहित्य को, जातै परम प्रकास ।
सुकवि प्रताप विचारि चित, कीन्हौ काव्य-विलास ।[1]

रसिक गोविद ने गद्य में मान्य आचार्यों के उद्धरण देते हुए प्रसगों को स्पष्ट किया है :

"अन्य-ज्ञान रहित जो आनन्दसो रस। प्रश्न—अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि। अथ काव्य-प्रकाश को मत—कारण-कारज सहायक है जे लोक में इन ही को नाट्य म, काव्य मे विभाव संज्ञा कहा है। अथ टीकाकर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण कौ मत—सत्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित्, अन्यज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।"[2]

श्रीपति और दास को हिन्दी भाषा का स्वच्छ ज्ञान था, अतएव उन्होने उसकी प्रवृत्ति का ध्यान रखा है। श्रीपति ने केशव के उदाहरण देकर दोषों का स्पष्टीकरण किया है। रसिक गोविंद ने हिन्दी के ही अनेक प्रसिद्ध कवियों के छंद दिये है। इस प्रकार इन लोगों ने अपने ग्रंथों को समयोपयोगी बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है और उसमें इन्हे थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली है, परन्तु वास्तव में इन बेचारों की सीमाएँ इतनी अधिक थी कि यह सफलता सन्तोषप्रद किसी प्रकार नही कही जा सकती। सारांश यह है कि उपर्युक्त कवि मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन न कर सके हों परन्तु वे रीति-निरूपण को उद्देश्य मानकर चले थे, इसमें संदेह नही। उस उद्दश्य की पूर्ति के लिए वांछित अध्ययन एवं काव्य-मर्मज्ञता उनमें थी, परन्तु उनको व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम नहीं था। और, दूसरे संस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र विवेचन का साहस भी उनमें नहीं था। इसीलिए उनकी गणना प्रथम श्रेणी के प्रवर्तक आचार्यों में तो हो ही नहीं सकती, द्वितीय श्रेणी के व्याख्याकारों में भी उनका स्थान काफी नीचा रहेगा। परन्तु प्राचीन हिन्दी-साहित्य में फिर भी आचार्य इन्ही को माना जा सकता है।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन ग्रंथों की गणना की जा सकती है जिनका मुख्य वर्ण्य विषय शृङ्गार ही है। इस प्रकार के प्रसिद्ध ग्रंथ है—केशव की 'रसिकप्रिया', मति-

---

१. काव्य-विलास, १
२. रसिक गोविन्दानन्दघन हस्तलिखित

राम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र के 'रस-रत्नाकर' और 'रसार्णव', देव के 'भाव-विलास', 'रस-विलास', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद' आदि, कवीन्द्र का 'रस-चन्द्रोदय', दास का 'रस-निर्णय', तोष का 'सुधानिधि', बेनीप्रवीन का 'नवरस-तरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' इत्यादि। इस पद्धति का आधार रुद्रभट्ट के 'श्रृङ्गारतिलक' और विशेषकर भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' तथा 'रस मंजरी' में मिलता है। इन ग्रंथों में वैसे तो सामान्यत: रस के साथ रस के स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का वर्णन किया गया है परन्तु प्रधानता श्रृङ्गार के ही विभिन्न अंगों को दी गई है। और रसों का निरूपण तो केवल ग्रन्थ-पूर्ति के लिए कर दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि न सभी ने श्रृङ्गार को समस्त रसों का राजा तो एक स्वर से माना ही है। यथा:

(१) सबको केशवदास हरि, नायक है श्रृंगार।[1]

(२) (अ) विमल सुद्ध सिंगार-रस, देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, विवस न पावत अन्त॥

(आ) रसनि-सार सिंगार-रस, प्रेम-सार सिंगार।[2]

(३) स्याम बरण ब्रजराज पति, थाई है रति भाव
ताहि कहत सिंगार हैं, सकल रसन को राव॥[3]

(४) नवरस में सिंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।[4]

केशव-जैसे कुछ कवियों ने अन्य रसों का भी समाहार श्रृङ्गार में कुशलता से कर दिखाया है। 'रसिक-प्रिया' में हास्य, अद्भुत आदि मित्र रसों का ही नहीं भयानक, वीभत्स आदि अमित्र रसों का भी उसके अन्तर्गत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा बेनीप्रवीन ने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानक का श्रृङ्गार–विमिश्रित वर्णन किया है। वास्तव में ये प्रयत्न कुछ सीमा तक ही सफल हुए हैं. और हो सकते हैं। इनकी अपेक्षा मतिराम आदि ने अन्य रसों की सर्वथा उपेक्षा करके अधिक विवेक का परिचय दिया है। मतिराम ने अपने 'रसराज' में केवल श्रृङ्गार का ही वर्णन और चित्रण किया है।

इन ग्रन्थों में श्रृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सम्यक् निरूपण मिलता है। संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका (आलम्बन), सखी, दूती एवं षट्ऋतु (उद्दीपन), और उसके अनुभाव, सात्विक भाव, नायिकाओं के स्वभावज अलंकार आदि

---

१. **केशव, 'रसिक-प्रिया'**

२. **देव, 'शब्द-रसायन'**

३. **बेनीप्रवीन, 'नवरस-तरंग'**

४. **पद्माकर, 'जगद्विनोद'**

का मनोहर वर्णन विस्तार पूर्वक अत्यन्त मनोनिवेश के साथ किया गया है। वियोग पक्ष में पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेद, पूर्वानुराग के श्रवण, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि साधन, मान-मोचन के अनेक उपाय और वियोगजन्य काम-दशाएँ आदि वर्णित और अंकित हैं। संयोग और वियोग में इन कवियों की वृत्ति संयोग में ही अधिक रमी है। और उसमें भी सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है नायिका-भेद को, क्योंकि इन कवियों की रस-वृत्ति का अन्य प्रसंगों की अपेक्षा नारी के रूप-भेदों से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।

नायक-नायिका शृङ्गार के आलम्बन हैं अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहले रस के स्वरूप, भेद, स्थायी आदि का वर्णन करने के उपरान्त विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन हो। परन्तु इनमें से बहुत से कवियों ने बिना किसी प्रकार के संकोच अथवा दम्भ के नायिका-भेद से ही अपने ग्रंथों का आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दिया है कि "सब रसों में मुख्य है शृङ्गार-रस और शृङ्गार आलंबित है नायक और नायिका पर, अतएव सबसे पूर्व उसी का वर्णन किया जाता है:

> **होत नायका-नायकहिं, आलम्बित शृंगार।**
> **तातें बरणौं नायका, नायक मति अनुसार॥**[1]

× × ×

> **सुरस नायिका नायकहिं, आलंबित है सोइ॥**
> **तातें प्रथमहि नायिका, नायक कहत बनाइ।**
> **जुगति जथामति आपनी, सुकविन को सिर नाइ॥**[2]

देव ने तो नायिका और नायक को साक्षात् माया और ब्रह्म ही कह दिया है:

> "माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप।"[3]

वास्तव में रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व ये ही कवि करते हैं। इनकी पद्धति तर्क-सिद्ध न होकर सर्वथा रस-सिद्ध है। रीतिकाल की 'रीति' और 'शृङ्गारिकता' इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र असम्भव है। क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व-प्रदर्शन न होकर केवल कला-साधन ही था जिसमें रसात्मकता और कलात्मकता दोनों का संयोग आप-से-आप हो जाता था। इनका रीति-निरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ़ है उसका कारण

---

१. मतिराम, 'रसराज'
२. पद्माकर, 'जगद्विनोद'
३. 'देवसुधा'

प्राय: इनकी प्रतिभा ही थी—आचार्यत्व का विशिष्ट प्रयत्न-साधन नहीं। स्वभाव से रस-सिद्ध और सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार शास्त्रविद् होने के कारण इनको अद्भुत रसज्ञता प्राप्त हो गई थी। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का उचित संयोग ही इनकी सफलता का मूल कारण था। क्योंकि अन्य कवियों की व्युत्पत्ति और अभ्यास चाहे इनसे बढ़े-चढ़े रहे हों, परन्तु शक्ति में वे सभी इनसे हीनतर थे। स्वभावत: इनको हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान था। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने प्राय: लक्षणों तक मे नहीं किया, उदाहरणों की बात तो दूर रही। वैसे भी इनका ध्यान लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक था उसी के अनुसार ये अपनी सफलता आँकते थे। यह एक दूसरा कारण है जो इन ग्रंथों के निरूपण की स्वच्छता के लिए उत्तरदायी है।

तीसरी शैली 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलंकार-निरूपण की संक्षिप्त शैली है। इसका आरम्भ तो शायद करनेस के 'श्रुतिभूषण' आदि ग्रंथों से हुआ हो, परन्तु वास्तविक प्रतिष्ठा इसे महाराज जसवन्तसिंह के 'भाषा-भूषण' से ही प्राप्त हुई। 'भाषा-भूषण' की रचना दोहों की अत्यन्त समस्त पद्धति पर हुई है—जिनमें पहले चरण में अलंकार का लक्षण और दूसरे में उदाहरण दिया गया है। इस संक्षिप्त पद्धति के अनुकरण पर हिंदी में अनेक उपयोगी अलंकार-ग्रंथों का निर्माण हुआ—जिनमें सूरति मिश्र-कृत 'अलंकार-माला', रसिक सुमति का 'अलंकार-चन्द्रोदय', भूपति का 'कंठाभूषण', शम्भुनाथ मिश्र का 'अलंकार-दीपक', ऋषिनाथ-रचित 'अलंकार-मणि-मंजरी', बैरीसाल का 'भाषा-भरण', नाथ हरिनाथ तथा महाराज रामसिंह के रचे हुए 'अलंकार-दर्पण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त तीन प्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' के तिलक रूप में लिखे गए—पहला दलपतिराय और बंसीधर का, दूसरा प्रतापसाहि और तीसरा गुलाब कवि का रचा हुआ है। इन तीनों में सबसे पूर्ण तिलक पहला ही है। शुक्लजी के शब्दों में इस टीका का 'भाषा-भूषण' के साथ वही सम्बन्ध है जो 'कुवलयानन्द' का 'चन्द्रालोक' के साथ। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन सभी ग्रन्थों में 'चन्द्रालोक' की अत्यन्त संक्षिप्त शैली में अलंकार-निरूपण किया गया है।—चन्द्रालोककार का उद्देश्य स्पष्टत: अलंकार-शास्त्र को सरल और सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करने का था—उन्होंने किसी प्रकार के खंडन-मंडन, वर्गीकरण, नवीन उद्भावना आदि के पचड़े में न पड़कर, सरलता से कंठस्थ हो जाने वाले छोटे श्लोक छंद के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देते हुए अलंकारों का अत्यन्त स्वच्छ निरूपण किया है। इस दृष्टि से वे वास्तव में अलंकार-साहित्य के शिक्षक रूप में हमारे सामने आते हैं। आचार्य का गौरव—जो भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक—

अथवा मम्मट आदि को भी प्राप्त है, उसके अधिकारी जयदेव आदि नहीं हो सकते, क्योंकि उनका ग्रन्थ अलंकार के विज्ञान का विवेचन न करके उन्हें केवल सुपाठ्य रूप में ही उपस्थित करता है। हिन्दी में 'भाषा-भूषण' और उसके, अथवा उसके मूल 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर जितने ग्रथ रचे गए, सबके विषय में भी ठीक यही कहा जा सकता है—एक प्रकार से वे तो और भी कम गौरव के अधिकारी है। परन्तु यहाँ हम केवल दृष्टिकोण की बात कर रहे हैं—इन सभी ग्रन्थों का लक्ष्य स्वीकृत रूप से अलंकार-निरूपण ही है, काव्य-रचना नहीं। इसीलिए उदाहरणों को अनावश्यक महत्त्व नहीं दिया गया। वे यदि कहीं सुन्दर बन पड़े हैं तो रचयिता की कवित्व-शक्ति के ही कारण ऐसा हुआ है। उनको साध्य नहीं माना गया। इन ग्रंथों की विवेचन-पद्धति के विषय में दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि इन सभी में संक्षिप्त शैली का अनुसरण किया गया है और अधिकतर दोहों का ही प्रयोग है, परन्तु क्रम सबका एक-जैसा नहीं है। एक श्लोक में ही लक्षण और उदाहरण देने वाली 'चद्रालोक' की शैली का निर्वाह तो 'भाषा-भूषण', 'अलंकार-माला', 'अलंकार-चन्द्रोदय' आदि में मिलता है। यद्यपि पिछले दो ग्रंथों का विषयाधार 'कुवलयानन्द' ही अधिक है, 'चन्द्रालोक' नहीं। इनसे थोड़ा भिन्न बैरीसाल के 'भाषाभरण' और पद्माकर के 'पद्माभरण' का क्रम है। जिनमें दोहों के अतिरिक्त यत्र-तत्र कुछ और छंद भी दिये हैं, साथ ही एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण देने की पद्धति को भी उतना नहीं अपनाया गया, क्योंकि उपर्युक्त ग्रंथों की अपेक्षा इनमे उदाहरण-विस्तार थोडा अधिक है। वैसे तो लक्षण आदि का आधार इन्होंने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' को माना ह, परन्तु उदाहरण इनके प्राय: स्वतंत्र है। इस प्रकार इनमे वर्णन-स्वातंत्र्य अपेक्षाकृत अधिक है। हरिनाथ के 'अलंकार-दर्पण' का क्रम इन सबसे विचित्र है। उन्होंने पहले ८६ दोहों में अलंकारों के लक्षण और उनके बाद ४० छंदों में उन सभी के उदाहरण दे दिए हैं—अतएव एक छंद मे उनको कई-कई अलंकारों के उदाहरणों का समावेश करना पड़ा है। ऋषिनाथ के 'अलंकारमणि-मंजरी' और शंभुनाथ के 'अलंकार-दीपक' में कवित्त-सवैयों का अनुपात अधिक है। इसके अतिरिक्त शंभुनाथ मिश्र ने गद्य में भी वार्तिक लिखकर अपना आशय स्पष्ट किया है। स्वभावतः ये ग्रंथ उदाहरणों की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ न होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से अधिक स्पष्ट हैं। इसी पद्धति का विकसित रूप हमें दलपति और बंसीधर के 'अलंकार-रत्नाकर' में मिलता है जो अलंकार निरूपण की इस संक्षिप्त शैली का सबसे अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना स्वीकृत रूप में काव्य-चातुर्य प्रदर्शित करने के लिए न होकर, अलंकार की शिक्षा देने के उद्देश्य से ही हुई है। इन कवियों का दृष्टिकोण भी वास्तव में श्रीपति, सूरति मिश्र आदि की भाँति

गम्भीर और विवेचनात्मक है। इन्होंने पहले गद्य द्वारा प्रत्येक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया है और फिर उदाहरण के किस चरण में अलंकार है इसका भी स्पष्ट निर्देश किया है। जिसके उपरान्त किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता है। दूसरा गुण इस ग्रन्थ में यह है कि लेखकों ने उदाहरण केवल अपने ही न देकर केशव, मतिराम, सेनापति, गंग, बिहारी, देव, दास आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में से दिये हैं, जिससे अलंकार का वस्तु-रूप हृदयंगम करने के लिए विद्यार्थी का मन पहले से ही प्रस्तुत रहता है। सारांश यह है कि ग्रंथकर्ताओं ने हिन्दी-रीति-काव्य के पाठकों की वास्तविक कठिनाई का बड़े समुचित रूप से समाधान करते हुए अपने ग्रन्थ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके लगभग पैंतालीस वर्ष बाद (१८३७ में) एक ऐसे ही व्याख्यान-प्रधान अलंकार-ग्रंथ का निर्माण उत्तमचन्द भंडारी ने 'अलंकार-आशय' नाम से किया। भंडारी कवि की अपेक्षा व्याख्याता और सुहृदय ही अधिक मालूम पड़ते हैं।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग ऐसे ग्रंथों का है जिनका दृष्टिकोण इनके सर्वथा विपरीत है। इसके अन्तर्गत मतिराम के 'ललित ललाम,' भूषण के 'शिवराज-भूषण,' रघुनाथ के 'रसिकमोहन,' दूलह के 'कविकुल-कंठाभरण,' दत्त के 'लालित्यलता,' ग्वाल के 'रसिकानन्द' और प्रतापसाहि के 'अलंकार-चिन्तामणि' आदि की गणना की जा सकती है। इसके रचियता आचार्यत्व अथवा अलंकार-निरूपण को प्रधान लक्ष्य बना कर नही चले। यद्यपि इनका निरूपण विशेषकर मतिराम और रघुनाथ का अत्यन्त स्वच्छ है, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों को कहीं अधिक महत्त्व दिया है। भूषण ने तो शायद अपने अनेक छन्दों को स्वतन्त्र रूप में रच कर फिर उनको रीति-बद्ध किया है। इसीलिए उनके द्वारा अलंकार-निरूपण प्रायः स्पष्ट नहीं हो पाया। मतिराम और प्रतापसाहि रससिद्ध कवि थे। मतिराम ने भी भूषण की ही तरह अपने लक्षणों को प्रायः आश्रयदाता पर घटाने का प्रयत्न किया है। दूलह और दत्त के ग्रंथ अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं—परन्तु दूलह के उदाहरणों की प्रौढ़ता और दत्त की चमत्कार-प्रियता उन्हें रीति-शिक्षक की अपेक्षा कवि या कलाकार रूप में ही अधिक प्रस्तुत करती है। रघुनाथ और ग्वालकवि की स्थिति अवश्य कुछ मध्यवर्ती-सी है, क्योंकि इन दोनों ने जितना उदाहरणों की रचना पर ध्यान दिया है, उतना ही अलंकारों के स्पष्टीकरण का भी सफल प्रयत्न किया है। रघुनाथ ने तो अपने सवैया और कवित्त का सम्पूर्ण कलेवर ही अलंकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त किया है—जिस के कारण उनका ग्रन्थ अलंकार के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी बन गया है। उधर ग्वाल ने भी अलंकार की बारीकियों में काफी गहरे जाने की कोशिश की है। फिर भी इनको पहली श्रेणी में नहीं गिना जा

सकता, क्योंकि काव्य-चातुरी इनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हो पाई। मतिराम और भूषण की भाँति इनकी दृष्टि रस-सर्जना पर तो केन्द्रित नहीं थी, परन्तु चमत्कार-प्रदर्शन पर अवश्य थी, जो इनके लिए अलंकारों को उदाहृत करने का साधन-मात्र ही नहीं था—वरन् स्वतंत्र साध्य भी था।

हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में शब्दालंकार का महत्त्व अर्थालंकार की अपेक्षा अनुपात से भी कम है। 'भाषा-भूषण', 'अलंकार-दर्पण', आदि में तो अनुप्रास को छोड़कर अन्य शब्दालंकारों का उल्लेख भी नहीं है, अनुप्रास-प्रेमी पद्माकर ने अनुप्रास को भी छोड़ दिया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन कवियों की दृष्टि अर्थ-गाम्भीर्य पर अधिक जमने लगी थी। इसका मुख्य कारण वास्तव में यह है कि इन सभी ग्रन्थों के मूलोद्गम 'चन्द्रालोक' में भी शब्दालंकारों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। हिन्दी में चमत्कार-प्रियता किस सीमा तक पहुँच गई थी इसके उदाहरण स्वरूप वे रीति-ग्रन्थ उपस्थित किये जा सकते है जिनमें शब्द-क्रीड़ा के गोरखधंधे रचे गए है। इनका पथ-प्रदर्शन तो लीलापुरुषोत्तम के क्रीड़ा-रसिक सूरदास ही अपनी 'साहित्य-लहरी' द्वारा कर गए थे--बाद में रहमान ने अपने 'यमक-शतक' में कहीं श्लेष, कहीं यमक और कहीं एकाक्षर का चमत्कार दिखाकर इस परिपाटी को विकसित किया और अंत में जगतसिंह ने 'चित्र-मीमांसा' और काशीराज ने 'चित्र-चन्द्रिका'-सदृश ग्रन्थों की रचना करके उससे सर्वथा परिपूर्ण बना दिया। वैसे तो केशवदास आदि आचार्यों ने अपने रीति-ग्रन्थों मे चित्र-काव्य का विस्तृत विवेचन किया है परन्तु उनका उद्देश्य काव्य के इस प्रसंग को भी समाविष्ट करके अपने विवेचन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना ही था। चित्र-काव्य को ये लोग निर्विवाद रूप से अधम काव्य मानते थे और उसकी रचना करना प्रतिभा का अपव्यय समझते थे।

अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।

× × ×

चित्र काव्य को जो करत, बायस चाम चबात।[1]

परन्तु इनके विपरीत उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिताओं ने उसको सर्वथा स्वतंत्र महत्त्व दिया है—और शब्द की जितनी खिलवाड़ सम्भव थी--सभी का हौसला पूरा कर लिया है। संस्कृत में इनका प्रेरक अप्पय दीक्षित का वही 'चित्र-मीमांसा' ग्रन्थ कहा जा सकता है जिसकी कि पंडितराज ने अपने 'चित्र-मीमांसा खंडन' में धज्जियाँ बखेर दी हैं।

मौलिक उद्भावनाएँ और आलोचना-शक्ति :--रीतिकालीन आचार्यों की

---

१. देव-'शब्द रसायन'

गिनना भी तो शास्त्र-विरुद्ध एवं असंगत है। इसके अतिरिक्त रस-प्रसंग में देव ने एकाध संगति बैठाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनका मत है कि "लौकिक रस नौ होते हैं : नौ में तीन मुख्य हैं :—शृंगार, वीर और शांत। शेष का समाहार इन्हीं में हो जाता है। हास्य और भयानक का शृंगार में, रौद्र और करुण का वीर में और अद्भुत और वीभत्स का शांत में। फिर इन तीनों में मुख्य है शृंगार।" यह नवीन वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणों की तरह बहुत संगत या आत्यन्तिक नहीं है। लोक-जीवन में तथा साहित्य में रति, उत्साह और शम् ये तीन उदात्त वृत्तियाँ अवश्य हैं। परन्तु करुणा का महत्त्व भी इनसे कम नहीं है। वास्तव में साहित्य में शांत की अपेक्षा करुण का परिपाक अधिक सरल और स्वाभाविक है। आदिकाव्य 'रामायण' करुण-रस-प्रधान ही है। इसी प्रकार शांत के साथ अद्भुत और वीभत्स का सामंजस्य तो ठीक बैठ जाता है। वीर के व्यापक रूप के साथ करुण और रौद्र भी आ जाते हैं, परन्तु शृंगार और भयानक की असंगति केवल 'भय बिनु होइ न प्रीति' के बल पर कैसे मानी जा सकती है ?

भाव का वर्णन हिन्दी-कवियों ने बड़ी उपेक्षा के साथ, और इसीलिए बहुत कुछ भ्रामक रूप में किया है। केशव ने वीभत्स के स्थायी जुगुप्सा के लिए निन्दा शब्द का ही प्रयोग किया है——ग्लानि तक तो खैर थी, परन्तु निन्दा तो सर्वथा अशक्त शब्द है। दास ने 'प्रीति' नामक भाव और माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का 'प्रेयान्' ही है। देव ने तेतीस संचारियों के अतिरिक्त एक और संचारी 'छल' माना है, और 'वितर्क' के अवांतर भेद कर दिये हैं : (१) विप्रतिपत्ति, (२) विचार, (३) संशय, (४) अध्यवसाय। परन्तु यह भी 'रस-तरंगिणी' का ही अनुवाद है। कामदशाओं में भी विस्तार-प्रिय देव ने भेदों की शृंखला जोड़ दी है और अभिलाषा, स्मरण, चिन्ता, उद्वग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि आदि के अनेक भेद करके रख दिये हैं। इनमें सबसे अधिक मनोरंजक हैं आठों सात्विकों के अनुसार स्मरण के भेद——स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सभी का अन्तर्भाव आपने स्मरण म कर दिया है। एक दूसरे स्थान पर देव ने इन्हीं सात्विकों की गणना संचारियों के अन्तर्गत की है। 'भाव-विलास' में संचारी भाव दो प्रकार के माने गए हैं——एक शारीर, दूसरे आंतर। शारीर हैं स्वेद, स्तंभ आदि सात्विक भाव, और आंतर हैं निर्वेद, ग्लानि आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी। सात्विकों को व्यभिचारी या संचारी के अन्तर्गत शारीर संज्ञा देकर अन्तर्भूत करना यह देव की मौलिक सूझ है, ऐसा भ्रम हो सकता है, परन्तु जैसा कि देव ने स्वयं स्वीकार किया है। भरत आदि में भी इस प्रकार का वर्णन है। भरत ने वास्तव में स्थायी के अतिरिक्त संचारी और सात्विकों को भाव के अन्तर्गत गिना है, व्यभिचारी के अन्तर्गत नहीं। बाद के

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सात्विकों को अनुभाव माना है। किन्तु देव का मूल आधार यहाँ भी भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' ही है। साधारणतः इसमें कोई नवीनता नहीं नज़र आती, फिर भी यह व्यवस्था मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत नहीं है। सात्विक भाव भी रस के परिपाक में शरीर में संचरण करके स्थायी को पुष्ट करते ही हैं, इस दृष्टि से उनको व्यभिचारी का 'शरीर' रूप मान लेने में कोई हर्ज भी नहीं है। सात्विक की स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध संवेदन अर्थात् एसे संवेदन की है जिसमें शारीरिक स्पन्दन अधिक-से-अधिक और मानसिक कम-से-कम होता है। परन्तु अनुभूति का अंश उनमें है अवश्य, इसलिए अनुभाव के साथ उसका सम्बन्ध संचारी से भी मानने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इन्हीं (भानुदत्त और देव) के अनुसरण पर रसलीन ने भी अपने 'रस-प्रबोध' में व्यभिचारी के दो भेद किये हैं: तन-व्यभिचारी और मन-व्यभिचारी, और सात्विकों को तन-व्यभिचारी माना है।

दास ने इसी प्रकार हावों की संख्या में वृद्धि की है—प्रचलित दस भावों में उन्होंने दस और जोड दिए हैं परन्तु उनमें से आठ तो, जैसा कि शुक्ल जी ने निर्देश किया है, 'साहित्य-दर्पण' में वर्णित नायिका के कृति-साध्य अठारह अलंकारों में से अन्तिम आठ अलंकार है। शेष दो, बोधक और हेला भी, उनके अपने नहीं है। उनसे पूर्व केशव ने भी विश्वनाथ के दो 'अंगज अलंकार' हाव और हेला और एक कृति-साध्य अलकार 'मद' को अपने भेदों में जोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक और हाव माना है: 'बोध'—यह बोध ही दास का बोधक हाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रपंच न विशेष मनोवैज्ञानिक ही है और न आत्यंतिक ही। इस तरह तो साहित्य के भेद प्रभेदों का कितना ही आडम्बर रचा जा सकता है। वास्तव में बखेड़ा खड़ा करते समय यह कवि-आचार्य विश्नाथ के इस स्पष्ट सिद्धांत-वाक्य को भूल गए कि 'एत च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभदा इति यदुक्तं [illegible]।' अर्थात् य गिनाय गए भाव इत्यादि उपलक्षण-मात्र ह। इनका और भी विस्तार हो सकता है।

अब नायिका-भद को लीजिय। हिन्दी का नायिका-भेद संस्कृत की अपक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य ह—निरूपण की दृष्टि से नहीं। इस क्षेत्र में भी इन कवियों ने लक्षण और रीति-विवेचन के लिए सस्कृत क ही ग्रंथों का आश्रय लिया है। कुछ लोगों का विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अवान्तर-भेद हिन्दी-कवियों की कल्पना की उद्भूति हैं। परन्तु बात एसी नहीं है। ये भेद प्रायः सभी विश्वनाथ तथा भानुदत्त में मिल जाते हैं। केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने हैं—१. नव-वधू, २. नवयौवना ३. नवल-अनंगा और ४. लज्जा-प्राय-रति (सलज्ज-रति)। इनमें नव-यौवना, नवल-

अनंगा और लज्जा-प्राय-रति क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना, प्रथमावतीर्ण-मदन-विकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं; नव-वधू मुग्धा का सामान्य रूप है।—देव मुग्धात्व को वयःसन्धि तक खींच ले गए हैं, और उधर रसलीन ने भेदों के भी भेद कर डाले हैं। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति से भी किया जाता है: अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना (नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढा)—और ये भेद अधिक संगत भी हैं। हिन्दी के चिंतामणि, मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने इन्हीं को माना है। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्भावना नहीं हैं—इनका भी आधार संस्कृत का लोक-प्रिय ग्रन्थ 'रस-मंजरी' ही है। हिंदी-कवियों ने ये समस्त भेद और इनके आवान्तर रूप ज्यों-के-त्यों भानुदत्त से उद्धृत कर लिए हैं। इसके अतिरिक्त नवोढ़ा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है, और विश्रब्ध नवोढ़ा समधिक-लज्जावती का। केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किये हैं:-(१) आरूढ़यौवना, (केशव) अथवा रूढ़-यौवना (देव). (२) प्रादुर्भूत-मनोभवा, (३) प्रगल्भ-वचना, (४) सुरति-विचित्रा, ये भी विश्वनाथ के प्ररूढ़-यौवना, प्ररूढस्मरा, ईषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरता के ही नामान्तर-मात्र हैं। विश्वनाथ का मध्य-व्राड़िता इन्होंने छोड़ दिया है। इसी प्रकार प्रौढ़ा के भी चार अवान्तर भेद हैं--१. समस्त-रत-कोविदा २. आक्रमित-नायका (आक्रांतनायका–देव) ३. लब्धापति, ४. विचित्र-विभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्त-रस-कोविदा और आक्रांत-नायका तो विश्वनाथ के ही भेद हैं और विचित्र-विभ्रमा भावोन्नता का रूपान्तर है। लब्धापति शायद स्वतंत्र है (?) रसलीन ने पति-दुःखिता नायिकाएँ भी कही हैं--जिनमें से कोई बेचारी मूढ़मति कोई बालपति और कोई वृद्धपति के कारण दुःखी है। इनकी मान्यता घोषित करते हुए रसलीन कहते है कि:

> इन भेदन में जो कोऊ रसाभास विख्यात।
> मुग्धा, कुलटा हू विषे सो पुनि पायौ जात॥[1]

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यों ने दो ही वर्णन किये हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा। हिंदी में छः भेद और दृष्टिगत होते हैं:--गुप्ता, विदग्धा, (१ वचन, २ क्रिया), लक्षिता, कुलता, मुदिता, और अनुशयना। केशव को छोड़कर चिंतामणि, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बाद के सभी कवियों ने इनका व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। परन्तु यह भी 'रस मंजरी' के भेदों का ही शुद्ध अनुवाद है--'गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा अनुशयना मुदिता प्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः।' दास ने इस क्षेत्र में भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है—उन्होंने परकीया

१. 'रस-प्रबोध'

के उद्बुद्धा और उद्बोधिता दो नवीन भेद किये हैं। उद्बुद्धा, जिसके हृदय में प्रीति स्वयं उत्पन्न हो। उद्बोधिता, जिसके हृदय में नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। उद्बुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गई है: १. अनुरागिनी २. प्रेमाशक्ता। उद्बोधिता के तीन भेद हैं--असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या (जब कि वह पूर्णतः उद्बोधिता हो जाती है)। रसलीन ने इस विस्तार को और भी बढ़ाया है--उन्होंने असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किये हैं। ये भेद शास्त्रीय दृष्टि से विशेष स्वतंत्र महत्त्व न रखते हुए भी कम-से-कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते ह; और साथ ही इन कवियों के आलोचनात्मक पर्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते है। परन्तु दास का महत्त्व भेद-विस्तार के लिए इतना नहीं है जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होंने काफी स्वच्छ रीति से नायिका-भेद की असंगतियों को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होंने गर्विता के विभिन्न भेदों को स्वतन्त्र न मानकर स्वाधीनपतिका के अंतर्गत, धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्य-संभोग-दुःखिता को उत्कण्ठता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने देव से संकेत ग्रहण करके रक्षिता (रखैल) आदि की भी स्वकीया के अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभास से मुक्ति पा ली है। संस्कृत में और हिन्दी में भी सामान्या का साधारणतः एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नहीं हुई--और उन्होंने अपने समय की 'सामान्याओं' की गति-विधि का निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिए--१ स्वतंत्र, २. जननी अधीना, ३. नियमिता और ४. प्रेम-दुःखिता।

अवस्था के अनुसार संस्कृत में भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएँ कही गई है; हिन्दी में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका, ये दो भेद और मिलते हैं। इनमें प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की 'रस मंजरी' मे वर्णित प्रोत्स्यत्-पतिका है। जिसका उन्होंने प्राचीनों के अनुसार स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है, "प्राचीनलेखनादग्रिमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रोत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति।" उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इसका अंतर्भाव खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा आदि में नहीं किया जा सकता; अतएव इसका स्वतंत्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचार में ऐसी ही यक्ति आगत-पतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोषितपतिका और आगतपतिका के संयोग से अर्थात् पति के गमनागमन के आश्रित देव ने गतागतपतिका (गमनागौन) नायिका की भी कल्पना कर ली है। वास्तव में नायिका की यह मनःस्थिति है तो अत्यन्त मार्मिक--बिहारी ने दो-एक दोहों में इसका अत्यन्त सुन्दर अंकन किया है, परन्तु

यहाँ दो आपत्तियाँ हो सकती हैं : एक तो यह कि अवस्था इतनी स्थायी नहीं है कि इसके आधार पर एक स्वतन्त्र भेद की कल्पना की जा सके । दूसरे, यह उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं—पति-गमन और पति-आगमन—का संयोग ही तो है । थोड़े अन्तर से ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, उसकी स्थिति में भी एक विशेष भाव-सौन्दर्य वर्तमान रहता है । पर इस विस्तार का कहीं अन्त भी होगा या नहीं—इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जायँगे ?

फिर भी यह विस्तार रुका थोड़े ही, भाव-शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करके अन्य शास्त्रों में भी इसने प्रवेश कर ही लिया । काम-शास्त्र में दिये हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने विस्तार तो नहीं किया, परन्तु संकेत अवश्य दे दिया है । उसी को केशव और उनके उपरांत देव आदि ने लक्षण और उदाहरणों से परिपुष्ट करके हमारे सामने रख दिया । चिन्तामणि ने अंशानुसार तीन भेद और दिये हैं—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादि, परन्तु ये भी 'रस-मंजरी' से अनूदित हैं । देव केवल जाति और अंशभेद से ही सन्तुष्ट नहीं रहे । उन्होंने गुण-भेद, प्रकृति-भेद, देश-भेद न जाने कितने भद और और कर डाले हैं । परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन हैं और न महत्वपूर्ण । देव ने भी इनका नियोजन-मात्र ही किया है, सृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के संकेत तो साहित्य-ग्रन्थों में ही मिल जाते हैं । उदाहरण के लिए देश-भेद की ओर मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में संकेत किया है :

"तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा"...; उधर प्रकृति, गुण, सत्व इत्यादि के लिए भी काम-शास्त्र, वैद्यक आदि में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है ।

रीति-काल का दूसरा मुख्य वर्ण्य विषय है अलंकार । इस युग में नायिका-भेद के बाद सबसे अधिक ग्रंथ अलंकारों पर मिलते हैं । इस क्षेत्र में भी सबसे पहले केशव ने ही चमत्कार दिखाया है । उन्होंने अलंकारों का सामान्य और विशेष दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी-पाठक के लिए एक नवीन योजना अवश्य है, परन्तु यह विभाजन वास्तव में संस्कृत के पूर्व-ध्वनि-काल की विचार-धारा पर आश्रित है—जब कि भामह, दण्डी, वामन आदि समस्त काव्य-सौन्दर्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे, जब अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म नहीं थे । स्थिर शोभाकारक धर्म थे । दण्डी ने अलंकारों को काव्य को ही शोभित करने वाले धर्म कहा है, विश्वनाथ आदि की तरह शोभा की वृद्धि-करने वाले अस्थिर धर्म नहीं कहा । अतएव उनकी दृष्टि में रस, रीति, गुण आदि काव्य के समस्त अंग, जिनसे उसके सौन्दर्य की सृष्टि होती है, अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते हैं । इसी परम्परा के अनुसरण पर केशव ने सभी कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध बातों को अलंकार मानकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य से सम्बद्ध और विशेष अर्थात् वर्णन-शैली से सम्बद्ध दो भेद कर दिए हे । जैसा कि आचार्य शुक्ल और उनके उपरांत पंडित

कृष्णशंकर शुक्ल ने विस्तार-पूर्वक दिखाया है। केशव ने अपना सभी विवेचन संस्कृत-ग्रंथों से लिया है। सामान्य अलंकारों का वर्णन संस्कृत के उत्तर काल में रचे हुए दो कवि-शिक्षा-ग्रन्थों से--अमर की 'काव्य-कल्पलता-वृत्ति' तथा केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' से अनूदित किया गया है, और विशेष अलंकारों का वर्णन दंडी के 'काव्यादर्श' पर आश्रित है। केशव के भेद, लक्षण आदि ही नहीं अनेक उदाहरण तक दंडी से लिये गए हैं। उनके द्वारा दिये गए उपमा के विभिन्न भेदों में से कुछ तो दंडी से ज्यों-के-त्यों ले लिए गए हैं, कुछ नामान्तर करके रख दिए गए हैं। विपरीतोपमा आदि एक-आध भेद, जो उनकी अपनी कल्पना है, उपमा ही नहीं बन पाए हैं। यही बात आक्षेप, दीपक और हेतु के भेदों के विषय में कही जा सकती है। अर्थान्तरन्यास के भेद दंडी से भिन्न हैं, परन्तु उनमें प्रायः अलंकारत्व ही नहीं आ पाया। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि दंडी का वास्तविक आशय न समझ सकने के कारण ही केशव-कृत उपभेदों में नवीनता दिखलाई पड़ने लगती है। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक अलंकार माना है: गणना, जिसमें एक से लेकर दस तक संख्या वाली वस्तुएँ गिनाई है। यह वास्तव में विशेष अलंकार न होकर उनके सामान्य अर्थात् वर्णन विषय से सम्बद्ध अलंकारों में ही आता है। इसका भी आधार अमर और केशव मिश्र के ग्रंथ ही है।

भूषण ने काफी गड़बड़ करने पर भी दो नये अलंकार दिये है--सामान्य-विशेष और भाविक-छवि। इनमे सामान्य-विशेष तो, (जिसमें कि विशेष के द्वारा सामान्य का बोध कराया जाता है,) निश्चय ही अप्रस्तुत-प्रशंसा का 'विशेष-निबंधना' रूप-मात्र है। भाविक-छवि भाविक का रूपांतर है जिसमें कालगत दूरी की जगह स्थानगत दूरी को आधार माना गया है। फिर भी भाविक-छवि की उद्भावना में यत्किंचित् स्वातन्त्र्य मानना और उसी के अनुपात से भूषण को भी उसका श्रेय देना उचित होगा : क्योंकि शुक्ल जी और उनके अनुयायियों की यह युक्ति कि रीति काल के कवियों की अमुक उद्भावना अमुक भाव अथवा अमुक अलंकार का रूपांतर है सर्वत्र बहुत संगत नहीं है। रूपांतर की बात की जायगी तो संस्कृत-शास्त्रों में दिये हुए काव्यांगों के अनक भेद निरर्थक सिद्ध हो जायँगे, अलंकारो में ही अनेक प्रधान अलंकार ऐसे हैं जिनको रूपान्तर कहकर अन्य अलंकारों में अंतर्भूत किया जा सकता है।

देव ने अलंकार-निरूपण बहुत ही चलते ढंग पर किया है। उन्होंने नाम और लक्षण प्रायः केशव के ही अनुकरण पर दे दिये हैं, इसीलिए दो-एक नाम संस्कृत से भिन्न मालूम पड़ते हैं। उदाहरण के लिए इनका संकीर्ण तो संकर और संसृष्टि दोनों का स्थूल रूप है और सुक्रमोक्ति 'क्रम' या 'यथा-संख्य' से भिन्न नहीं है। कुछ लोग नाम-वैभिन्य देखकर इनको नवीन उद्भावना ही मान बैठे हैं। इस प्रसंग में भी जो कुछ थोड़ा-बहुत कार्य है, वह दास ने ही किया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित वीप्सा

और सिंहावलोकन चाहे कोई महत्त्वपूर्ण एवं सर्वथा नवीन अलंकार न हो—सिंहावलोकन, जिसका उल्लेख चित्र-काव्य के अन्तर्गत देव ने भी किया है—न्याय से लिया गया है, वीप्सा व्याकरण से—परन्तु वे इस बात का परिचय अवश्य देते हैं कि दास को भाषा की प्रकृति की पहचान थी और साथ ही उनमें स्वतन्त्र आलोचना की शक्ति अवश्य थी। वास्तव में कहीं-कहीं छन्द का सौन्दर्य बहुत-कुछ वीप्सा आदि पर ही आश्रित रहता है:—उदाहरण-स्वरूप देव का प्रसिद्ध पद 'रीझि-रीझि, रहसि, रहसि, हँसि, हँसि उठै'—पेश किया जा सकता है। दास की व्यावहारिक आलोचन-प्रतिभा का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने शब्दालंकारों को गुणों के आश्रित मानकर उनका साथ-साथ वर्णन किया है। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, संस्कृत में गुणों की परिभाषा और सैद्धान्तिक रूप चाहे कितना ही निभ्रान्त क्यों न हो, परन्तु, जहाँ उनके व्यावहारिक रूप का प्रश्न आता है, वहाँ उनका अस्तित्व वर्ण-योजना से सर्वथा पृथक् करना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए प्राचीन आचार्यों के निषेध की उपेक्षा करके भी जगन्नाथ ने उनको वर्णों के आश्रित भी मान लिया है। दास ने भी शायद इसी उलझन को दूर करने के लिए, गुणों का रस को सहज धर्म मानते हुए भी उनको शब्दालंकार से सम्बद्ध माना है। इसके अतिरिक्त एक लेखक ने उनके दो अलंकारों के योग की कल्पना को भी, जिसके द्वारा उन्होंने अतिशयोक्ति के कुछ नवीन भेदों की सृष्टि की है, मिश्रालकार मानकर बहुत-कुछ महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ये मिश्रालंकार संकर से भिन्न हैं, क्योंकि संकर में केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार का योग रहता है, पर मिश्रालंकार में दो अर्थालंकारों का ही योग होता है। परन्तु भला इस भयंकर भ्रांति पर आश्रित उनकी प्रशंसा का क्या महत्त्व हो सकता है? वास्तव में ये मिश्रालंकार मम्मट द्वारा वर्णित संकर के उस रूप में आ जाते हैं जिसमें अर्थालंकार अंगांगि भाव से संयुक्त रहते हैं—उनको स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता।

अलंकार-क्षेत्र में होने वाली वास्तविक अथवा तथाकथित उद्भावनाओं की सूची लगभग यहीं समाप्त हो जाती है। बाद म एक-आध लेखक ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सर्वथा हास्यास्पद भेद कर डाले हैं, परन्तु अधिकांश ने पाठ्य-ग्रन्थों की रचना ही अपना मूल उद्देश्य माना है। अतएव उन्होने नवीन भेद-प्रभेदों के पचड़े में न पड़कर परिपाटी-भुक्त प्रचलित अलंकारों का ही निरूपण किया है। बहुत-से अप्रचलित स्वतन्त्र अलंकारों को भी उन्होंने काट-छाँट दिया है।

इस द्रौपदी के चीर को अब यहीं समाप्त कर दिया जाय। हमारे पास पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई है, जिसके आधार पर उपर्युक्त उद्भावनाओं की परीक्षा करते हुए, अब हम रीतिकालीन आचार्यों की आलोचन-प्रतिभा का मूल्य आँक सकते हैं। जैसा

कि ऊपर के विवरण से सिद्ध है इनके द्वारा वास्तव में जो कुछ नवीन उद्भावनाएँ हुई हैं वे प्रायः महत्त्वहीन ही हैं। हिन्दी के इन समीक्षक कवियों ने हमारे रीति-विवेचन में कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है। संस्कृत का रीति-शास्त्र अठारहवीं शताब्दी तक इतना व्यापक और पूर्ण हो चुका था कि उसका, कम-से-कम, विस्तार अब सम्भव नहीं था, उत्तरकालीन संस्कृत के आचार्य भी पिष्ट-पेषण करते हुए कवि-शिक्षा के सरल ग्रन्थ ही तैयार कर पाए थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब किसी प्रकार का मौलिक विवेचन ही नहीं हो सकता था। हम देख चुके हैं कि संस्कृत में कवि के व्यक्तित्व के अनुसार काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण सर्वथा उपेक्षित रहा है। उसको लिया जा सकता था; और कुछ नहीं तो कम-से-कम बरसाती नदी की तरह फैले हुए, इस सिद्धांत-विस्तार की व्यवस्था हो ही सकती थी। इसके अतिरिक्त हिंदी के समीक्षकों पर तो एक और गुरुतर दायित्व था:—हिन्दी-भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करना—उदाहरण के लिए अलंकार के क्षेत्र में यह कितना आवश्यक था कि उचित वर्गीकरण करके उनमें काट-छाँट कर दी जाती और कम-से-कम उन अललारों को, जो वर्णन-शैली से सम्बन्ध न रखकर अलंकार-विषय से सम्बन्ध रखते हैं, हटा दिया जाता। परन्तु ये लोग वास्तविक रूप में आलोचक नहीं थे, इनका रीति-निरूपण भी वास्तविक आलोचन न होकर आलोचनाभास ही कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने अपने दायित्व को गंभीरतापूर्वक नहीं ग्रहण किया। संस्कृत के पतन-काल की वर्णनात्मक परिपाटी को अनुकूल पाकर उसका अनुसरण करना ही इन्हें सुगम प्रतीत हुआ। परिणामतः ये बेचारे उचित व्यवस्था भी नहीं कर पाए, मौलिक उद्भावनाएँ करना तो दूर की बात थी। व्यवस्था की दृष्टि से श्रीपति, और उनसे अधिक दास का ही थोड़ा-बहुत आभार माना जा सकता है—दास ने एक ओर समान अलंकारों के वर्ग बनाने का स्थूल प्रयत्न किया है और नायिका आदि के विवरण में समयानुकूल थोड़ा संशोधन किया है, तो दूसरी ओर भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ अलंकारों की उद्भावना तथा तुक का सर्वथा मौलिक विवेचन भी किया है। इनके अतिरिक्त थोड़े-बहुत गौरव के पात्र हैं वे आचार्य जिन्होंने काव्य के सर्वाङ्ग-विवेचन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका मौलिक योग कोई नहीं है, क्योंकि इन्होंने प्रायः 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि का अनुवाद ही किया है। फिर भी कम-से-कम इनका साहित्य-ज्ञान गम्भीर अवश्य था और हिन्दी में संस्कृत की गम्भीर-विवेचन-परम्परा को अवतरित करने के लिए हमें इनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। ये आचार्य हैं: कुलपति, श्रीपति, दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि और रसिक गोविन्द। केवल शृंगार के क्षेत्र में यह श्रेय मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकर

आदि को दिया जा सकता है—और केवल अलंकार के क्षेत्र में जसवन्तसिंह, मतिराम, दलपतिराय, बंसीधर, रघुनाथ-सदृश कवियों को। इन सभी की चिंतन-पद्धति इतनी स्वच्छ और विवेक-संगत थी कि इन्होंने किसी प्रकार की मौलिकता के चक्कर में न पड़ते हुए सरल और स्वच्छ निरूपण तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा। इसी लिए तो इनके ग्रन्थ अपने विषय का ज्ञान कराने में हिन्दी-पाठकों के लिए इतने उपयोगी सिद्ध हो सके। मौलिक विस्तार की सबसे अधिक आकांक्षा थी केशव और उनसे भी अधिक उनके अनुयायी देव को। परन्तु वास्तव में इन दोनों का पाण्डित्य विस्तृत होते हुए भी, चिंता-धारा बहुत सुलझी हुई नहीं थी। केशव की भ्रान्तियाँ उनकी उलझी विचार-धारा का अतर्क्य प्रमाण हैं। देव की विस्तार-प्रियता की चर्चा हम ऊपर कर चुके है, परन्तु विस्तार स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण नही है। उसके पीछे यदि प्रौढ़ तर्क का आधार और अनिवार्यता का आग्रह नहीं है, तो वह एक वाग्जाल-मात्र रह जाता है। देव की तबीयत इतनी ज्यादा मीज़ान-पसन्द थी कि वे अक्सर विवेक और सुरुचि तक को ताक में रख देते थे। वात, पित्त, कफ प्रकृति, और नाग, खर आदि के अंशों पर आश्रित नायिकाओं का वर्णन हमारे कथन की पुष्टि करेगा। देव काव्य के सूक्ष्म-मर्मी कवि थे। रस के मूल तत्त्व की थाह उन्होंने पा ली थी इसमें सन्देह नहीं, इसके अतिरिक्त उनकी एक-आध संगति भी ठीक बैठी है। परन्तु यह व्यक्ति कुछ अतिवादी था, इसीलिए अपनी असाधारण प्रतिभा का उचित उपभोग न कर पाया। केशव को यह गौरव भी नहीं दिया जा सकता, उनकी मर्मज्ञता सीमित थी। वे काव्य की सूक्ष्म तरल वृत्तियों को नहीं पकड़ पाते थे, अतएव उनका महत्त्व वैयक्तिक से अधिक ऐतिहासिक ही माना जायगा।

सारांश यह है कि इस युग में काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गंभीर नहीं रह गई थी; लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे—इसलिए उनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तर-कालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण संभव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।

काव्य-सिद्धांत और सम्प्रदाय:—संस्कृत में काव्य के पाँच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थे। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति, जिनमें सर्वमान्य हुआ ध्वनि-सम्प्रदाय। रीति ओर वक्रोक्ति तो अधिक जीवित ही न रह सके, अलंकार का भी तिरस्कार हुआ परन्तु उसका अस्तित्व अन्त तक बना रहा। बाद में यद्यपि अभिनव और मम्मट के द्वारा रस-ध्वनि का एकीकरण-सा ही हो गया था, परन्तु फिर भी इन दोनों का थोड़ा सा मौलिक अन्तर अवश्य मानना पड़ेगा। ध्वनि में बौद्धिक तत्त्व और रस में

ऐन्द्रिय तत्त्व की अपेक्षाकृत प्रधानता अनिवार्यतः निहित है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने ध्वनि की महत्ता स्वीकृत करते हुए भी शुद्ध रस को ही काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार हिन्दी के रीति-कवियों के सामने तीन काव्य-सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलंकार, इन तीनों का ही अनुसरण उन्होंने किया। हम देख चुके हैं कि रीतिकाल के वे आचार्य, जिन्होंने सर्वाङ्ग-विवेचन किया है, प्रायः मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि, जिनकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक अधिक थी, स्पष्टतः मम्मट की भाँति ध्वनि अथवा रस-ध्वनिवादी थे। उनके काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धांत दोनों ही इसके प्रमाण हैं। कुलपति ने स्पष्ट ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है :

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुन-गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन देह ॥[१]

दास ने यद्यपि आरम्भ मे रस को कविता का अग अर्थात् प्रधान अंग माना है :

रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता ॥[२]

परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थ में इस प्रकार के स्पष्ट सकेत हैं कि रस से उनका तात्पर्य रस-ध्वनि का ही है :

भिन्न-भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास।
रसै व्यंगि सब को कह्यो, ध्वनि को जहाँ प्रकास ॥[3]

इसके अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इन्होंने अलकार को भी बहुत महत्त्व दिया है :

अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृति छंडि।
सुकवि बचन रचनान सों देत दुहुन को मंडि ॥[४]

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप में ध्वनिवादी थे ही :

व्यंग्य जीव है कवित में, शब्द, अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग्य प्रसंग ॥[५]

उन्होंने व्यंग्य पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा है जिसमें सारे रस-प्रसंग का व्यंग्य-ध्वनि के द्वारा वर्णन किया गया है।

हिन्दी-रीति-काव्य में ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहि

---

१. रस-रहस्य
२. काव्य-निर्णय
३. काव्य निर्णय
४. काव्य निर्णय
५. व्यंग्यार्थ कौमुदी

म मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहों के काव्य-गुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नहीं रह जाता कि रसवाद के शुद्ध मानसिक-प्राकृतिक आनन्द की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्त्व देते थे।

उपर्युक्त कवियों से स्पष्टतया भिन्न दृष्टिकोण है मतिराम, देव, रसलीन, बेनीप्रवीन-जैसे कवि-आचार्यों और उनसे भी अधिक घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदिक रीति-मुक्त कवियों का, जो असंदिग्ध रूप में रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इन सभी ने रस का, विशेषकर शृङ्गार रस का ही, वर्णन किया है; अन्य अंगों को प्रायः छुआ तक नहीं है। मतिराम ने 'रसराज' की रचना कवियों और रसिकों के लिए ही की है पण्डितों के लिए नहीं :

रसिकन के रस को किया नयो ग्रन्थ रसराज।

देव के विषय में तो कहना ही क्या? वे तो रसवाद के सबसे बड़े पृष्ठ-पोषक थे :

काव्यसार शब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार।
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामें दरसत भाव।
अलंकार शब्दार्थ के, छन्द अनक सुभाव॥[1]

उन्होंने काव्य की सृष्टि और श्रवण दोनों में ही हृदयोल्लास की स्थिति को अनिवार्य माना है : 'कहत लहत उलहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति'; और रस-कुटिल केवल व्यंग्य-लीन काव्य को स्पष्ट शब्दों में अधम घोषित किया है। उन्होंने अभिधा-आश्रित काव्य को इसीलिए उत्तम माना है कि उसके द्वारा सहृदय काव्य रस का सीधा संवेदन कर सकता है—उसमें किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता जो लक्षणा अथवा व्यंजना के अधीन काव्य में थोड़ा-बहुत सर्वथा अनिवार्य होता है। और यही कारण है कि इस रस-सिद्ध कवि ने अलंकारों में भी स्वभाव और उपमा को ही प्रधानता दी है, तथा चित्र-काव्य की रचना के लिए 'वायस चाम चबात' कहा है। इन कवियों की काव्य-पद्धति के विषय में तो अधिक कहना व्यर्थ है। ये सभी रस-सिद्ध एवं शुद्ध हृदयवादी कवि थे जो प्रेम को जीवन का सार मानकर चले थे। उधर घनानन्द, ठाकुर आदि में, जो रीति के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गए थे,

---

१. शब्द-रसायन

यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। उन्होंने तो अपनी कविता-रसिकों के लिए भी नहीं रसज्ञ 'नेहियो' के लिए लिखी थी।

तीसरे सम्प्रदाय अलंकारवाद का भी प्रभाव हिन्दी में उपेक्षा-योग्य नहीं कहा जा सकता। अलंकार-ग्रंथों की इतनी बृहत् संख्या ही उसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है। यह ठीक है कि इन सभी के रचयिताओं को अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने न तो रस का तिरस्कार ही किया है और न अलंकार को ही काव्य का प्रमाण माना है। परन्तु जिन्होंने अपने रस-प्रेम का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलंकार-ग्रंथों का ही प्रणयन किया है, उनको अलंकार-सम्प्रदाय से बाहर नहीं माना जा सकता। केशव का यह सिद्धांत-वाक्य :

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, बनिता, मित्त॥[1]

उनका दण्डी का अनुकरण और सबसे अधिक उनका काव्यगत अलंकार-मोह सभी यह सिद्ध करते हैं कि वे मूलतः शृंगार-रसिक होते हुए भी अलंकारवादी थे। राजा जसवन्तसिंह और उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति, किसी स्पष्ट सिद्धांत-वाक्य के अभाव में भी, इसी ओर संकेत करती है। बाद के कवियों में उत्तमचन्द भंडारी और ग्वाल की रुचि अलंकारों में ही रमी थी। भंडारी ने तो केशव के सिद्धांत-वाक्य को ही प्रतिध्वनित करते हुए स्पष्ट कहा है :

कविता बनिता रस-भरी, सुन्दर होइ सुलाख।
बिन भूषन नहि भूषहीं, यहै जगत की साख॥[2]

इनके अतिरिक्त कुछ लक्ष्य-ग्रंथकार भी स्पष्टतः ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे : जैसे 'यमक-शतक' के रचयिता रहमान और 'चित्र-चन्द्रिका' के लेखक काशीराज इत्यादि।

इस प्रकार रीति-युग में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीन ही वादों का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नहीं लिया, क्योंकि वैसे भी वे उस समय तक काव्य-शास्त्र से बहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनों वादों में भी प्रधानता रही—रस-सम्प्रदाय की और रस में भी शृङ्गार-रस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुकरण पर 'शृङ्गारवाद' की स्वतन्त्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी।

---

१. **कवि-प्रिया**
२. **अलंकार-आशय**

श्रृङ्गारिकता

श्रृंगारिता के कारणः—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है श्रृङ्गारिकता। उसे तो वास्तव में रीति-काव्य की स्नायुओं में बहने वाली रक्त-धारा कहना चाहिए, क्योंकि इस वृहत् युग की कविता का नवदशांश से भी अधिक श्रृङ्गारिक प्रधान है। श्रृङ्गार की इस अतिशयता को तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परंपरागत साहित्यिक प्रभावों के प्रकाश में अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास में यह घोर अधःपतन का युग था—मुसलमानों का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिन्दू-जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्ति-युग में हिन्दुओं को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पड़ा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिंताजनक नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोक-नायक महात्माओं ने आध्यात्मिक विश्वासों का ऐसा माँगलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिंदुओं ने सब-कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नहीं खोया था। परन्तु रीति-काल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विप्लुत हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आन्तरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ घर की चहार-दीवारी में ही सीमित रह गईं। घर में ही जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे, उनको जुटाकर लोग जीवन का निर्वाह कर रहे थे। निदान विलास की सरिता दोनों कूलों को तोड़कर बह रही थी। विलास का केन्द्र-बिन्दु थी नारी, जिसके चारों ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे। इन सबके विस्तृत विवरण के लिए रीति-काल की सामाजिक पृष्ठभूमि में उद्धृत बर्नियर का उद्धरण पर्याप्त होगा। आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग में यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकांक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मँडरा सकती थीं। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन में आए, पर उन सभी में काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नहीं हुई। कारण यह था कि उन युगों में नैतिक आदर्श दृढ़ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पड़ते थे। परन्तु रीति-काल में कृष्ण-भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक संकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप में होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फ़ारसी संस्कृति और साहित्य की श्रृङ्गारिकता अब तक भारतीय संस्कृति में घुल-मिलकर उसका एक अंग बन गई थी। वह नागरिकता का एक प्रधान अलंकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन

दोनों रूपों में हिन्दी-कविता पर पड़ रहा था। तीसरे, संस्कृत और प्राकृत काव्य की जो परम्परा रीति-काव्य को उत्तराधिकार में मिली वह भी एकांत श्रृङ्गारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावों में पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता यदि अतिशय श्रृङ्गारिकता से अभिभूत है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

श्रृंगारिकता का स्वरूप:—नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण रीति-काल में काम-वृत्ति को अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अतएव रीति-काव्य की श्रृङ्गारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रंथियाँ नही हैं। उसमें स्वीकृत रूप से शरीर-सुख की साधना है, जिसमें न आध्यात्मिकता का आरोप है न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु श्रृङ्गारिक कुंठाओं से वे मुक्त थी। इसी कारण इस युग की श्रृङ्गारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है। परन्तु इस निर्बाध वासना-तुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ : वह यह कि काम जीवन का अंतरंग साधक तत्त्व न रहकर बहिरंग साध्य बन गया। इसीलिए रीति-काव्य की श्रृङ्गारिकता में प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती है। और उसमें भी सूक्ष्म आंतरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना-प्रधान एवं एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एव अनेकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल तरलता। रीति काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्-माकर रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य-भावना भी बहिरंग ही थी, अंतरंग नहीं थी। इन रसिकों की दृष्टि प्रायः शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुँच पाती थी, और आत्मा का सात्विक सौन्दर्य तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अत-एव इनकी सौन्दर्य-भावना, छायावाद की सौन्दर्य-भावना के बिल्कुल विपरीत—विषयीगत न होकर प्रधानतः विषयगत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप, अर्थात् विषयगत-सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन नयनों की प्यास अमिट थी। वास्तव में इन कवियों से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसमें हो सकती थी ? एक ओर बिहारी-जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक-से-बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर-जैसे रस-सिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है :

मतिराम

होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीजै ॥[1]

देव

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसीं न उघेरी।
री! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरीं न, घिरी नहिं घेरी ॥
देव कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगिही बूड़ि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भईं मेरी ॥[2]

घनानन्द

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छबि-फूलनि की, बरषा उर ऊपर जात है ह्वै ॥
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकण्ठ बनी जलजावली द्वै।
अँग-अँग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ॥[3]

पद्माकर

पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबैनी।[4]

शृंगार का गार्हस्थिक रूप:—इस शृङ्गारिकता के विषय में दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीति-काव्य भारतीय शृङ्गार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर बाह्य प्रभाव बहुत-कुछ पड़ा ज़रूर, लेकिन उसके मूल तत्त्व सर्वदा भारतीय ही रहे। भारतीय शृङ्गार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, करुण विप्रलम्भ—सभी दशाओं में अपने गार्हस्थ्य-तत्त्व को बनाए रहा है—यहाँ तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता में उसकी गार्हस्थिकता नष्ट नहीं हुई। इसी परम्परा में होने के कारण रीति-कविता का शृङ्गार दरबारी प्रभाव में रहते हुए भी अपना सहज स्वरूप बनाए रहा। उसमें नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाज़ारी हुस्न-परस्ती की बू नहीं आ पाई। यद्यपि एक-एक राजा या रईस के यहाँ अनेकों वेश्याएँ थीं, पातुरें रहती थीं। केशव के आश्रयदाता इंद्रजीत-सिंह के यहाँ छः वेश्याएँ तो नियमित रूप से थीं—अनियमित रूप से आने जाने वाली तो न जाने कितनी होंगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का

१. रसराज
२. प्रेम चन्द्रिका
३. सुजान-सागर
४. जगद्विनोद

ही माहात्म्य गान करते रहे। उन्होंने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया —गणिका की तो बात ही क्या :

> पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।
>
> × × ×
>
> पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत।
> आपु औटि खोया मिलै खात दूध फल होत॥
> काची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस-रीति।
> मार-रंग मारू-मही बारू की-सी भीति॥[1]

गणिका के प्रेम को उन्होंने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया। 'प्रेम हीन त्रिय वेश्या है श्रृङ्गाराभास'। इसी धर्म-संकट से बचने के लिए बेचारे दास को घर में रखी हुई परकीयाओं—अथवा गणिकाओं को स्वकीयात्व का फतवा देना पड़ा। परिणाम-स्वरूप यह श्रृङ्गार-विलास उच्छृंखल होते हुए भी गार्हस्थिक वातावरण से बाहर कभी नहो हुआ—कुल और शील की छाया उस पर किसी-न-किसी रूप में सदैव रही। और इसीलिए तो इस अभिसारिका के एक-आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्राय: सर्वत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहाँ दूती, दासी आदि की सहायता से सर्वथा घरेलू रीति से ही होती है। न यहाँ किसी अर्जुन को मत्स्य-भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पड़ता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध में विजय प्राप्त करनी पड़ती है, और न किसी मजनूँ को सहरा की खाक छाननी पड़ती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता—जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर—रीति-काल के श्रृङ्गार में अप्राप्य है। उपभोग-प्रधान होने से उसमें बलिदान की गंभीरता और साहसिकता की शक्ति नहीं है, और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण:—हम कह चुके है कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावत: रीतिकालीन कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण-मात्र है :

> क्षुधा-कामवश गत युग ने पशु-बल से कर जन-शासित,
> जीवन के उपकरण-सदृश नारी भी कर ली अधिकृत![2]

---

१. देव-प्रेम-चन्द्रिका,

२. पन्त

यह श्रृङ्गार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव में कम है——व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस-प्रसंगों में नारी भी कम सक्रिय नहीं दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है—पुरुष को हम प्रायः उसके चरणों पर सिर रखते हुए देखते हैं, परन्तु इस सबका अर्थ फिर भी यह नहीं होता कि रीति युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता——सभी चेष्टाएँ वास्तव में उसकी उपभोग्यता में श्री-वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई हैं——उनको इसलिए तो नायिका के अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व——उसके प्रेम-विरह, सुख-दुःख, हाव-भाव, लीला-विलास का एक ही उद्देश्य है, उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक-से-अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसमें व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता नहीं है। नायिका-भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपों का विस्तार ही तो है——रीतिकाल के पुरुष को नारी विशेष की वैयक्तिक सत्ता (Individuality) से प्रेम नहीं था——उसके नारीत्व से ही प्रेम था। देव ने निस्संकोच रूप से स्वीकृत किया है :

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप॥
तातैं कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राचै पागै प्रेम रस मेटै, मन के खेद॥
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीरि।
प्रबल सदा बनवासिनी, नवल नागरिन पीरि॥
कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक कों, चित्त हरै करि प्रीति॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहने का अवकाश नहीं देता कि रीति-काल के कवि के मन में नारी के प्रति कितना आदर-भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख-भोग के साधन से अधिक और क्या था? इसीलिए परिस्थिति बदलते ही ये लोग दूसरी ही साँस में उसकी छवि को छाया-ग्रहिणी अथवा विवेक को हरने-वाली कहने से नहीं चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि में कुछ था ही नहीं। गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत भी सुख-दुःखों की समभोक्ता सहचरी, माता, बहन, पुत्री, मित्र, सचिव आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण रूप हो सकते थे——परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनमें नहीं है। उसकी सात्विकता स्वकीया की 'कुल कानि' से, उसका

१. देव, 'रस-विलास'

आत्माभिमान खण्डिता की मान दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरी से आगे नही जा सकती थीं।

रीति-काव्य की श्रृङ्गारिकता का स्वरूप-विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते है :-

१. उसका मूलाधार रसिकता है, प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है--किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-संकेत नहीं।

२. इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है--उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

३. यह श्रृङ्गार उपभोग-प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती।

४. इसीलिए इसमे तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार एव तीव्रता कम।

जीवन-दर्शन : रूढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति-युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नही था। जिस युग में राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है ? वाँछित अभिव्यक्ति के अभाव में जीवन की वृत्तियों का वह संतुलन नष्ट हो गया था जो जीवन-दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्य-क्षेत्र की परिधि अत्यन्त संकुचित हो जाने से उनको उचित व्यायाम का अवकाश ही नही मिलता था। जीवन का स्वस्थ संघर्ष, जो मानव-शक्तियों को विकसित और पुष्ट करता है, समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था--जिसमे अब सामन्तवाद की शक्ति और अहंता छाया-शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी। इसीलिए तो रीति-कवियों का दृष्टिकोण बद्ध और संकुचित है। भौतिक जीवन के आर-पार देखने वाली दृष्टि तो उन्हें प्राप्त थी ही नहीं--भौतिक जीवन के अन्तर्गत भी उनकी गति अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनमें वह प्रबल अहंकार नही था जो भौतिक उच्चाकांक्षाओं को जन्म देता है, दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नहीं थी जो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नही है--अर्थात् उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़-

धूप से श्रांत होकर मानव नारी की मधुर अचल-छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है। उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकांगी ही है, परन्तु उसमें एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है। घोर निराशा के उस युग में जीवन में किसी-न किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे; मैं समझता हूँ कम-से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असंगत होगा, क्योंकि यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत-कुछ हल्का पड़ता है। जीवन के मूलगत गम्भीर प्रश्नों का स्पर्श भी वह नहीं करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नहीं मानता—उसके द्वारा उद्बुद्ध जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण के विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीतिबद्धता एवं अलंकरणप्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक संकुचित दायरे में जीवन की सतह को ही छूकर रह जायगा उसकी वाह्य-क्रिया शक्तियाँ स्वभावतः अलंकरण की ओर ही प्रेरित होंगी, क्योंकि उनके लिए विस्तार और गहराई में तो कोई अवकाश है ही नही। यही कारण था कि इन कवियों को अलंकारों से इतना अधिक मोह हो गया और वे रीति के बन्धनों से प्रेम करने लग गए। मुख्यतः इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओं से आमने-सामने खड़े होकर टक्कर लेने में व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियों की परीक्षा होती है—तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इस युग में नहो था। घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया में त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पड़ा हुआ यंत्रवत् चल रहा था। क्या राजनीतिक क्षेत्र में और क्या सामाजिक क्षेत्र में सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह निःशेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी, केवल रीतियों की दासता-मात्र रह गई थी, जो कि रीति-काव्य में स्पष्टतः प्रतिफलित है। कवियों के सम्मुख तो व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष का प्रश्न और भी नहीं था—उनका जीवन-पथ तो सर्वथा सरल एवं निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था राज्याश्रय, उनका कर्तव्य-कर्म केवल एक ही था काव्य-रचना, उनका लक्ष्य केवल एक ही था रस-प्राप्ति। ऐसे कवियों की कविता भला अवैयक्तिक एवं रीतिबद्ध क्यों न होती ?

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप

रीति युग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढ़िबद्ध ही थी—वास्तव में धर्म इस युग में आकर धर्माभास-मात्र रह गया था। धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का, जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यों-त्यों बना ही हुआ था। एन्द्रिय-प्रेम मे आकण्ठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका की तन-द्युति में अनुराग बनाये हुए थे :

> **तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति कर अनुरागु।**
> **जेहि ब्रज-केलि निकुंज मग, पग-पग होतु प्रयागु।।**[1]

वास्तव में यह भक्ति भी उनकी श्रृङ्गारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी-न-किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीति काल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसीलिए रीति काल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

रीति-काव्य का रूप-आकार

रीतिकाल भाषा का अलंकृत काल है। भक्तिकाल में तुलसी, जायसी, सूर-जैसे कवियों के सशक्त हाथों में पड़कर जो भाषा प्रौढ़ता के चरम रूप को प्राप्त कर चुकी थी, वह रीति-काल तक आते-आते स्वभावतः अलंकरण की ओर झुकने लगी। उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास तुलसी और सूर कर चुके थे, वह विराट्, तीव्र, सूक्ष्म और तरल सभी प्रकार की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ थी। उसके लिए अब केवल दो विकास-पथ थे : एक व्यवस्था, दूसरा अलंकरण। समय की रुचि और तदाश्रित काव्य-प्रेरणा चूंकि अलंकरण के ही अनुकूल थी, निदान उसने अलंकरण ही में विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य के रूप-आकार को उन्होंने कई प्रकार से अलंकृत किया है—एक तो प्रत्यक्षतः शब्द और अर्थ के अलंकारों का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की व्यंजनात्मक

---

१. बिहारी-सतसई

शक्ति और कहीं-कहीं लक्षणा का भी उपयोग करके और तीसरे माधुर्य-गुणोचित शब्दों तथा कोमल वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके ।

अलंकारों का प्रयोग :—कविता और अलंकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है । भक्त कवियों के उद्‌गार भी उक्ति-चमत्कार से हीन नहीं हैं । परन्तु यदि उनकी आत्मा का विश्लेषण किया जाय तो वे उक्तियाँ भाव की ऊष्मा से ही चमत्कृत हैं । आवेश अथवा अन्तर्प्रेरणा के क्षणों में वाणी अपने-आप ही उद्दीप्त हो गई है । उसको अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया। रूपकों का जाल तुलसी और सूर में केवल वहीं मिलता है, जहाँ भाव क्षीण है । कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त कवियों में अलंकृति की कमी नहीं है, परन्तु वह प्रायः अयत्नज है । रीति-काल के कवियों ने सचेत होकर और प्रायः यत्नपूर्वक अपनी वाणी को अलंकृत किया है—और उनके काव्य-विषयक दृष्टि-कोण को देखते हुए ऐसा सर्वथा स्वाभाविक भी था । कविता उनके लिए, जैसा कि आरम्भ में ही कहा है, एक कला थी—व्यक्तित्व को अलंकृत करने वाला शृङ्गार अथवा गोष्ठी-मण्डन थी । स्वभावतः अलंकरण उसका एक मौलिक तत्त्व था । दूसरे, शृङ्गार और उसमें भी रसिकता एवं वस्तु-गत दृष्टि का प्राधान्य होने के कारण रूप-आकार की सजावट भी अनिवार्य ही थी । प्रेमाहत कवियों के उद्‌गार तो सीधे और अपनी अभिव्यक्ति में नग्न हैं । उनको तो अलंकरण का धैर्य ही नहीं था । परन्तु रीति-काल के अधिकांश कवि रूप-रसिक नागरिक थे, अतएव वे अपनी कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे? इसके अतिरिक्त अलंकार-सम्प्रदाय भी तो उस समय अत्यन्त लोक-प्रिय था । मतिराम और देव जैसे रस-सिद्ध कवियों को भी उसका प्रभाव व्यक्त-रूप में स्वीकार करना पड़ा था ।

सिद्धान्त रूप से तो इस युग में अर्थालंकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालंकार की उपेक्षा सी होने लगी, परन्तु प्रयोग में सभी कवियों ने उनका सम्मान किया है । वास्तव में दोनों प्रकार के अलंकारों का जितना प्राचुर्य इस काव्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं । रीति-काव्य एक तरह से अलंकारों का समृद्ध कोष है, जिसमें बढ़िया-से-बढ़िया और घटिया-से-घटिया नमूने मिल सकते हैं । संयत और संतुलित रुचि के कवियों में अलंकारों का अत्यंत कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है—वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वारस्य के इतने सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं । चमत्कारी कवियों ने अलंकारों को साधक न मानकर साध्य माना है—इनमें सुरुचि और कुरुचि का अनमेल मिश्रण पाया जाता है—इन्होंने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी से खिलवाड़ किया है, दूसरी ओर रूपक, अति-शयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बाँधे हैं ।

उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग:—यह तो मानना ही पड़ेगा कि जिस क्षेत्र से

रीति-कवियों ने अपनी अलंकरण-सामग्री का चयन किया है, वह अपेक्षाकृत संकुचित है। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनों क्षेत्रों में उनकी गति सीमित थी, उन्होंने कामोपभोग की दृष्टि से इनको देखा है—अतएव उनके प्रतीक और उपमान प्राय: विलास से सम्बद्ध हैं। प्रकृति के क्षेत्र में रीति के उद्दीपन—चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, नक्षत्र, मेघ, विद्युत्, जमुना, वासन्ती, लता-गुल्म, कमल, चम्पक, कुंद, चकोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खंजन, भ्रमर आदि ही उनके उपमान और प्रतीक हैं। भौतिक जीवन में नागरिक विलास की वस्तुओं से ये आगे नहीं गये—मणि-मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, घनसार, अंजन, आभूषण, और कामदेव के धनुष-बाण आदि ही उनके प्रिय उपकरण रहे हैं। बिहारी ने जल-चादर, किबलनुमा, फानूस, शीशमहल, ताफ़ता जैसे नूतन उपमानों का प्रयोग करते हुए उनकी संख्या में वृद्धि की है, परन्तु ये उपमान भी रीति-भुक्त चाहे न हों नागरिक विलास के उपकरण तो हैं ही। सारांश यह है कि रीति-काल के उपमान प्राय: काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं। और उनके प्रयोग में इस युग के कवियों ने नूतन संयोजनाएँ प्राय: नहीं की वरन् परम्परा का ही अनुसरण अधिक किया है। संस्कृत में कालिदास का कौशल यही तो था कि वे प्रचलित उपमानों के विभिन्न संयोगों द्वारा सर्वत्र एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते थे। छायावाद युग में प्रसाद, पंत, और महादेवी ने इस कला की ही वृद्धि की है। रीति काल के कवियों ने नवीन प्रयोगों द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दर्य-बोध जागृत नहीं किया, समृद्ध उपमानों के प्राचुर्य से जगमगाहट उत्पन्न की है। प्रतीकों का प्रयोग रीति-कविता में अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे रूढ़ हैं; और वैसे वे सभी स्वीकृत रूप में सभी काम-प्रतीक हैं। मनोविश्लेषण के विशेषज्ञों ने मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के माने हैं—सृजन के प्रतीक विकासशील और प्रसन्न तथा नाश के गति-रूढ़ और गुरु-गंभीर होते हैं। काम में वास्तव में सृजन और नाश दोनों का सम्मिलन हो जाता है। संयोग शृङ्गार के प्रतीकों में प्रसन्नता और वियोग के प्रतीकों में घनता रहती है। रीति-काल के प्रतीक अधिकांश में प्रसन्न और विकच हैं—जो संयोग के प्रभुत्व के द्योतक हैं।

रीति-काल का दूसरा प्रयोग-कौशल था कोमल शब्द-चयन। इन कवियों ने प्रयत्न-पूर्वक सभी कठोर और श्रुति-कटु शब्दों का बहिष्कार किया है—अथवा कठोर शब्दों की हड्डियाँ तोड़कर उन्हें अत्यन्त लचीला और उनके खुरदरेपन को खरादकर चिकना कर दिया है, भले ही ऐसा करने में उन्हें अपने शब्द-भाण्डार को सीमित करना पड़ा हो। यहाँ संयुक्ताक्षरों का प्रयोग अत्यन्त विरल है, पद प्राय: असमस्त हैं, समास यदि आये भी हैं तो छोटे हैं, और उनमें वर्ण-मैत्री और भाषा की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक-मिजाजी बरती

है। इसके काव्य मे किसी भी ऐसे शब्द की गुंजायश नही है, जो माधुर्यगुण के अनुकूल न हो––अक्षरों के संगुम्फन में इन्होने कभी त्रुटि नही की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द माणिक-मोती की तरह गुँथे हुए है––ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार अंग्रेजी की अठारहवी शताब्दी की भाँति रीति-काल में काव्य-भाषा का एक विशिष्ट रूप बन गया था जिसके दो मुख्य तत्त्व थे: नागरिकता और मसृणता। ये ही दो तत्त्व इस भाषा के शब्द-चयन का नियमन करते हैं–– ब्रज के अतिरिक्त अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी––सभी के शब्दों के लिए, यदि उनमें उपर्युक्त दोनों गुण विद्यमान है, द्वार उन्मुक्त था। उनमें सभी प्रकार के ग्राम्य अथवा अभद्र स्पर्शों का अभाव तो है ही, बोल-चाल के चलते और काम-काजी प्रयोगों को भी कभी बढ़ावा नही मिला––इसलिए उर्दूदाँ रसिकों की रीति-भाषा से यह शिकायत रही है कि उसमें मुहावरों की कद्र नही की गई। इस भाषा के लिए शब्दों अथवा पदों की सबसे बड़ी विशेषता थी रस-सिक्तता एवं संगीत––बस। इस प्रकार यह केवल काव्य की भाषा थी, जन-जीवन की भाषा नही थी––इसीलिए उसमे रचनात्मकता-मात्र थी, महाप्रणता और व्यापकता नही रह गई।

रीति-काव्य की साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूप-रेखा हिन्दी में चितामणि के उपरांत बँधकर निश्चित हुई––वह कोई आकस्मिक घटना नही थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी––जिसके अन्तर्तत्त्व प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति-काव्य मे धीरे-धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की, जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्य-वस्तुओं' को छोडकर नित्य-प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे-छोटे चित्रों को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत मे आकर बस गई––और आर्यों की शिक्षा-संस्कृति का अमीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के मन में परलोक की चिंता से मुक्त नित्य-प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढने लगा। जीवन से बढ़कर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा और वहाँ भी कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाश-चुम्बी राज-महलों से उतर कर साधारण जीवन के सुख-दुःखों में रमने लगी। इस दृष्टि-परिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमें हाल की 'सतसई' में मिलती है जिसकी रचना चिंतामणि से कम-से-कम १३ शताब्दी पूर्व और अधिक-से-अधिक १६ शताब्दी पूर्व हुई थी। हाल की 'सतसई' रीति-काव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रन्थ है। प्राकृत मे रची हुई ये गाथाएँ प्राकृत

जीवन के सरल-सहज घात-प्रतिघातों को चित्रबद्ध करती है। इनका वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन सम्बन्धों के वर्णन में बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति मे सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशषता है—अतिशयोक्ति को कहीं भी महत्त्व नहीं दिया गया। इमीसे इन गाथाओं में एक भोली सुकुमारता है, जैसी कि मतिराम आदि में मिलती है।

जस्स जहं विअ पठमं तिस्सा, अंगम्मिणिवडिआ दिट्टी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्ग केण विण दिट्ठम्।
यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम्॥

'सत्तसई' के उपरान्त इस प्रकार के श्रृङ्गार-मुक्तकों के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत मे मिलते है। एक अमरुक कवि का 'अमरु-शतक'—दूसरी गोवर्धन की 'आर्या-सप्त-शती'। इनकी रचना निश्चित ही 'प्राकृत सत्तसई' के आधार पर हुई है परन्तु वातावरण मे अन्तर है। संस्कृत के इन छन्दों मं गाथाओं में अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौन्दर्य नही है। इनमें नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। हाल की गाथाओं और गोवर्धन की आर्याओं को साथ रखकर पढ़ने मे यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओं का सहज गुण और उस पर आश्रित वन्य-सुकुमारता इन आर्याओं में नही है—अभिव्यक्ति में अलकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टतः ही इनका आग्रह बढ़ चला है। यह परम्परा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश में भी अवश्य चली होगी, परन्तु उसके प्रमाण रूप कोई विशेष स्वतन्त्र ग्रंथ नही मिलते—केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में स्फुट गीत-छन्द मिलते है। हेम-चन्द्र के ग्रथ में उद्धृत मुंज के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी हैं। इनके अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य में ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमे कालिदास के प्रचलित 'श्रृङ्गार–तिलक,' 'घटकर्पर'; भर्तृहरि रचित 'श्रृंगार–शतक'; बिल्हण की 'चौर पंचाशिका' आदि अपने श्रृंगार–माधुर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये ग्रन्थ उपर्युक्त परम्परा मे थोड़े भिन्न है, यद्यपि इसमें सदेह नहीं कि उस परम्परा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनकी आत्मा मे जो आभिजात्य की गंध है वह उन्हें 'सत्तसई', 'आर्या-सप्तशती' और 'अमरु-शतक' के साधारण धरातल से पृथक् कर देती है। संस्कृत-साहित्य में श्रृंगार के इन मुक्तकों के समानान्तर ही भक्ति–परक मुक्तकों की भी एक परिपाटी चल पड़ी थी जिसके अन्तर्गत 'दुर्गा–सप्तशती', 'चण्डी-शतक', 'वक्रोक्ति पंचाशिका' (शिव-पार्वती-वन्दना) और कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध 'कृष्ण लीलामृत' आदि के अनेक स्तोत्र ग्रन्थ आते हैं। इन स्तोत्रों की आत्मा भक्ति में की प्रेरणा होते हुए भी वाह्य रूप में प्रायः श्रृंगार की प्रधानता मिलती

है। इनमे शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृङ्गार-काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में जो राधा-कृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यों से ओत-प्रोत है, विद्यापति के गीत इन्ही का तो हिन्दी-संस्करण हैं। इन ग्रथों के विषय में भी ठीक वही कहा जा सकता है जो कि 'शृंगार तिलक' आदि के विषय मे कहा गया है, अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असदिग्ध रूप में स्वीकार करते हुए भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न मानना पड़ेगा। परन्तु हिंदी-रीति-काव्य मे जो "राधा कन्हाई सुमिरन" के बहाने का एक निरन्तर मोह तथा नायक के लिए कृष्ण ओर नायिका के लिए राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिए इन स्तोत्रो का प्रभाव बहुत-कुछ उत्तर-दायी है। वास्तव में रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तकों की उपर्युक्त परम्परा से मानें तो उसके बाह्य रूप (Form) [जिसमें कि राधाकृष्ण के प्रतीको का प्रयोग हुआ है] के विधान मे इन स्तोत्रों के कुछ स्पर्श अनिवार्यतः मानने पड़ेगे। इस सत्य को स्वीकार करने के लिए इसलिए और भी बाध्य होना पड़ता है कि स्वयं रीतियुग में 'चण्डी-शतक', 'चरण–चन्द्रिका' आदि स्तोत्रनुमा ग्रन्थों की रचना यदा-कदा होती रही थी।

इन दोनों श्रेणी के काव्यों को प्रभावित करने वाली एक तीसरी चिंता-धारा थी काम-शास्त्र की, जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परन्तु संस्कृत-काव्य की अंतिम शताब्दियों में अत्यधिक लोक-प्रिय हो गई थी। इस चिता-धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में, जो विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट था। 'काम-सूत्र' के उपरांत 'रति-रहस्य,' 'अनंग-रंग' आदि अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। यौन विज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पड़ा हो, परन्तु काव्य के वर्णन और मनोविज्ञान को इन्होंने निश्चित रूप से प्रभावित किया। ऐहिक शृंगार-मुक्तकों, शिव और कृष्ण-भक्ति के स्तोत्रों और नायिका-भेद के ग्रंथों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमें अंकित शृंगार-भावनाओं तथा केलि-क्रीड़ाओं के चित्रों एवं नायिकाओं के भेद-प्रभेदों में स्थान-स्थान पर उपर्युक्त ग्रंथों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की य ही तीन मुख्य साहित्यिक परम्पराएँ थीं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी-रीति-काव्य ने अपने अन्तर्तत्वों को ग्रहण किया। इसके उपरान्त तो हिंदी-साहित्य का ही उदय हो गया।

हिंदी का आदिम युग वीर-गीतों और वीर-गाथाओं से मुखरित था। वीर-गीतों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, परन्तु वीर-गाथा के कवियों में कुछ कवि—विशेष

कर चन्दबरदायी काव्य-रीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे । 'पृथ्वीराज-रासो' के शृंगार-चित्रों में अनेक चित्र ऐसे मिल जाते है जिनमें रूप के उपमानों को बहुत-कुछ उसी प्रकार रीति में जकड़कर उपस्थित किया है जैसा रीति युग मे हुआ है । उदाहरण के लिए एक परिचित नख-शिख लिया जा सकता है :

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो बन्निय,
बाल बस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय ।
बिगसि कमल मृग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नख सिख अहि घुट्टिय ।
छत्रपति गयन्द हरि हंस गति विह बनाय संचै सचिय ।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय ।।[1]

(२) देखि बरन रति रहय । बुन्द कन स्वेद सम्भुवर ।
चन्द किरन मनमथ्थ । हथ्थ कुट्ट जडु डुक्कर ।।
सुकवि चन्द बरदाय । कहिय उप्पय श्रुति चालह ।
मनो मयंक मनमथ्थ । चन्द पूज्यो मुत्ताहय ।।
कर किरनि रहसि रति रंग दुति । प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय ।।
सुक कहै सुकिय इंछनि सुनवि । पै पंगानिय सुन्दरिय ।।[2]

परन्तु इस प्रकार के रीति-ग्रथित वर्णन कहीं भी पाये जा सकते है । इसीलिए इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों मे रीति-तत्त्व खोजना विशेष अर्थ नहीं रखता । हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति है, जिनमें रीति-संकेत असदिग्ध रूप में मिलते हैं । रीति-काव्य की ऐन्द्रिय शृङ्गारिकता का तो विद्यापति में अपार वैभव ही है । उसकी रीतियों का भी उनको अत्यन्त मोह था । विद्यापति के शृगार-चित्र सभी अलकृत है और प्राय. उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है । ऊपर गिनाई हुई काव्य-परम्पराओं मे ऐतिहासिक मुक्तकों की परम्परा स्तोत्रों के भक्ति-रस में रँगकर जो रूप धारण कर सकती है बहुत-कुछ वही हमें विद्यापति मे मिलता है । इसीलिए विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीप्त होते हुए भी अधिक स्थूल नहीं हो पाए हैं । उनमें एक सूक्ष्म तरलता है । दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है—वस्तुगत नहीं है । उनका धरातल नित्य-प्रति के गार्हस्थ-जीवन तक नहीं उतरा । इसलिए उनमें वह मूर्खता नहीं है जो रीति-काल के शृगार-चित्रों में अनिवार्यतः मिलती है । इन ही दो कारणों से विद्यापति रीति-काव्य की परम्परा से थोड़ा बच जाते है ।

---

१. चन्द, पद्मावती समय पृ० २।०

२. चन्द

अन्यथा उनमें रीति-संकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है ही। उनके छन्द रीति-काव्य के किसी भी संग्रह में उठाकर रखे जा सकते हैं :

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल॥
अब सब खन रह आँचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात॥
कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बंधि॥
तइओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम॥
सुनइत रस-कथा थापय चीत।
जइसे कुरंगिनि सुनये संगीत॥
सैसव जौवन उपजल बाद।
केओ न मानय जय-अवसाद॥[१]

उपर्युक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जाने कितने रीति-छन्दों में सुन सकते हैं।

चन्द, विद्यापति आदि के काव्य से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीति-शास्त्र का पूरा-पूरा ज्ञान था और उस समय रीति-ग्रन्थों का बहुत-कुछ प्रचार हिन्दी मे भी निश्चित रूप से था। कृपाराम-कृत 'हिम तरंगिणी' इस अनुमान को सार्थक करती है। एक तो स्वयं उसकी ही रचना हिन्दी-काव्य के अत्यन्त आरम्भिक काल सम्वत् १५९८ में हुई :

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हित तरंगिणी हौं रची कविहित परम प्रकासु॥

इनके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दों में अपने पूर्व रचे हुए रीति-ग्रन्थों की ओर संकेत किया है :

बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बड़े विस्तारि।
मै बरन्यों दोहान बिच यातें सुघरि बिचारि॥[२]

अतएव इसमें कुछ भी सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी में रीति-काव्य की परम्परा लगभग उसके जन्म से ही आरम्भ हो जाती है—पुष्य या पुण्ड का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं। 'हित तरगिणी' शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य-ग्रन्थ भी नहीं व्यक्त रूप से लक्षण-ग्रन्थ है, जिसमें सम्पूर्ण नायिका-भेद अत्यन्त विस्तार

---

१. विद्यापति पदावली
२. हित तरंगिणी

के साथ वर्णित है। कृपाराम ने जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनेक ग्रन्थ पढ़ने के उपरान्त, फिर आप विचारकर कवियों और नागरिकों के लिए किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत-ग्रन्थ है, परन्तु उन्होंने सभी परवर्ती ग्रन्थों का अनुशीलन किया है और अत्यन्त स्वच्छ लक्षण उदाहरणों के द्वारा बड़ी सुथरी भाषा में नायिका-भेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्थों से अधिक समृद्ध है। बाद में मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नही किये। इनके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ में यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नही है, स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न-भिन्न भेदों का समन्वय और संगठन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के समसामयिक ही थे। 'सूर सागर' में भी रीतिबद्ध शृङ्गार चित्रों की कमी नहीं है। विद्यापति की भाँति सयोग और वियोग के सभी पहलुओं का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, उनके चित्रों मे अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिका-भेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नही छोडा। भक्त कवि सूर की खण्डिता का एक चित्र देखिये :

तहँइ जाहु ज ँ रनि बसे।
अरगज अंग मरगजी माला वसन सुगंध भरे से है।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है।[1]

और रीति-कवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइये :

पलक पीक, अंजन अधर, लसत महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥[2]

इस प्रकार सूर के अनेक चित्रों का रीति-कवियों ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलकार के उदाहरणों मे बिना किसी कठिनाई के रूपान्तर करके रख दिया है।

सूर का दूसरा ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' दृष्टिकूट और चित्रालंकारो का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति अन्तर्गत अलकार परम्परा में आता है। सूर के उपरान्त तुलसी-कृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है, उसके अनेक बरव प्रायः अलंकारों के उदाहरण मे लगते है। उधर रहीम और नन्ददास ने तो नायिका-भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे है। रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'बरवै नायिका भेद',

---

१. सूर सागर
२. बिहारी-सतसई

जिसमे विभिन्न नायिकाओं के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिये हुए है। यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति-ग्रन्थ है इसमें नायिकाओं के देश-भेद भी दिये गए है। बाद में देव ने 'रसविलास' आदि में इसी का अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर शृंगार दोहों को भी बड़ी सरलता से रीति-काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।

नन्ददास ने अपना ग्रन्थ 'रसमंजरी' भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर लिखा है :

> **'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।**
> **बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार॥**

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिये है, वहाँ नन्ददास ने उदाहरण न देकर बस लक्षण-मात्र ही दिये है। नन्ददास का नायिका-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है--उन्होंने अपने लक्षणों को सूत्र बनाकर नहीं छोड़ दिया। वरन् भिन्न-भिन्न नायिकाओं के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव मे जैसा कि एक हिन्दी के लेखक ने कहा है--'रसमंजरी' नायिका-भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है।

इस प्रकार रीति-परिपाटी गिरती-पड़ती किसी-न-किसी रूप में आरम्भ से ही चल रही थी परन्तु अभी हिन्दी में कोई ऐसा आचार्य न हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' यद्यपि एक शुद्ध रीति-ग्रन्थ थी-परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका-भेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व में इतनी शक्ति नहीं थी कि रीति-परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओं के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सके। यह कार्य केशवदास ने किया। केशवदास हिन्दी के पहले आचार्य है, जिन्होंने काव्य-रीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अंगों का गभीर और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। यह तो ठीक है कि उनका सिद्धान्त-वाक्य रूप यह दोहा कि :

> **जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।**
> **भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥**

और व्यावहारिक रूप में भी अलंकार के प्रति उनका अनुचित मोह दोनों ही उन्हें दण्डी आदि अलंकारवादियो की कोटि में रखते है—परन्तु उनकी 'रसिक-प्रिया' रस और नायिका भेद का प्रौढ़ ग्रन्थ है। यदि हम केशव की 'रसिक-प्रिया' को ही लें, 'कवि-प्रिया' को न देखें तो—उन्हें रसवादी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। उन्होंने भी उसी आग्रह से शृङ्गार को रसराज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य है कि केशव ने वास्तव

में पूर्व-ध्वनि तथा उत्तर-ध्वनि दोनों कालों की विचार-धाराओं को हिन्दी मे अवतरित किया। 'कविप्रिया' में अलंकार्य और अलकार में अभेद करने वाली पूर्वध्वनि काल की विचार-धारा की अभिव्यक्ति है और शृङ्गार को एक-मात्र रस स्वीकृत करने वाली 'रसिक-प्रिया' पर उत्तर-ध्वनि काल की सिद्धान-परम्परा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिन्दी-रीति-परम्परा के सबसे पहले मार्ग-स्तम्भ हैं। केशव के उपरांत दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है, जिन्होंने 'कल्पद्रुम' मे काव्य के अंग-उपांगों का विवेचन किया है। 'काव्य-कल्पद्रुम' आज अप्राप्य है--परन्तु उनके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किये हुए संकेतो से अनुमान किया जाता है कि वह 'काव्य-प्रकाश' की शैली पर काव्य की सम्पूर्ण रीतियों पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ होगा। फिर तो चिन्तामणि और उनके बन्धुद्वय का ही युग आ जाता है। और, रीति-ग्रन्थों की क्षीण रेखा-धारा जो हिन्दी के जन्म-काल से ही दबती-छिपती चली आ रही थी शत-शत मुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत साधारणत: यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिन्दी में रीति-परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्म-काल से ही मानना पड़ेगा--पुष्प या पुण्ड कवि-विशेष का अस्तित्व चाहे माने या नही। जन-समाज मे जहाँ समय-प्रभाव के अनुकूल वीर-भाव अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति की भावनाएँ काव्यरूप में अभिव्यक्त हो रही थी, वहाँ साहित्यविद् पण्डितों की गोष्ठियो मे आरम्भ से ही रीति-परम्परा का किसी-न-किसी रूप मे पोषण हो रहा था। (वीर-गाथा और भक्ति काल के शास्त्रनिष्ठ कवियो की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बंधनो का मोह नहो छोड़ पाती थी--चन्द, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नन्ददास सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असदिग्ध प्रमाण है)। कुछ इतिहासकारो का यह तर्क है कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में ही रीति-ग्रन्थो का किस प्रकार निर्माण हो सकता है--लक्षण-ग्रंथ तो लक्ष्य-ग्रंथो की समृद्धि के उपरात ही सम्भव है--अत्यन्त स्थूल है। क्योंकि हिन्दी-साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नही है। वह संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवहमान काव्य-धारा का एक रूपान्तर-मात्र है। सस्कृत-काव्य का पर्यवसान रीति-ग्रंथो मे ही हुआ था--अतएव हिन्दी के आरम्भ मे रीति ग्रंथो की रचना सर्वथा स्वाभाविक और सहज थी। हिंदी की इस रीति-परम्परा का पहला निश्चित स्फुरण है 'हिततरंगिणी',--परन्तु फिर भी उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की रचनाओं के साथ। केशव के पूर्व और केशव के समय मे भी चूंकि जन-रुचि अनुकूल नही थी--(केशव का युग भी आखिर तुलसी और सूर से सर्व-व्यापी प्रभाव से आक्रात था)--इसलिए रीति-परम्परा मे बल नहीं आ पाया। चिन्तामणि के समय तक उसे जन-रुचि का भी बल प्राप्त हो गया,

और बस तभी से यह धारा शत-सहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिन्तामणि का महत्व केवल आकस्मिक और संयोगजन्य है—वह एक संयोग-मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीति-ग्रंथों का ताँता बँध गया। युग-प्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीति-कवियों में से किसी ने भी उनका इस रूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव उन्होंने केशव को ही दिया है और वास्तव में केशव ही इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने विचारपूर्वक संस्कृत-रीति-काव्य की परम्परा को हिन्दी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार में भी उसको वांछित महत्व दिया।

—:०:—